प्रह्लाद

त्रैमासिक हिन्दी-पत्रिका

वर्ष १९८३

अंक-२

व्यवस्थापक : जब्बर सिंह सेंगर
कुलसचिव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विषय-सूची

प्रह्लाद

(त्रैमासिक पत्रिका)

वर्ष : १९८३ (अप्रैल से सितंबर तक) अंक : २

वैदिक ईश-प्रार्थना

❀

(भाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती)

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥२॥

यस्य सूर्यश्चक्ष श्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥४॥

[अथर्ववेद संहितायाम्। का०डे १०। प्रापाठके २३। अनुवाके ४ [सूक्ते ८] मं० १। [तथा सूक्ते ७ मन्त्र] ३२/३३/३४, ॥]

भाषार्थ—(यो भूतं०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है, (च) अनेक चकारों से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत जानता है, सर्वयश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लयकरता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, (स्वर्यस्य च केवलं) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उसको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥

सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त हैं तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्तानी किया है, (दिवंयश्चक्रेभूर्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्य लोक पर्यन्त सब जगत को रचके उसमें व्यापक होके, जगत के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है, (तस्मै) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥ २ ॥

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को बारंबार नये नये रचता है, (अग्नियश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया हैं, (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाइ किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करने वालीकिरण हैं वे चक्षु की नाईं जिसने की है, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्व०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाई है, ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को हमारा निरन्तर नमस्कार हो।

[स्वामी दयानन्द : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका: प्रथम मंत्र के अन्तर्गत]

भारतवर्ष के इतिहास में ऋषि दयानन्द का स्थान

(महात्मा मुंशीराम 'जिज्ञासु')

१. अवतरणिका

"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमि-क्रमेण"—अर्थात् प्रत्येक मनुष्य और जाति की उन्नति और अवनति क्रम से होती है—यह सूत्र अब इतना पुराना हो चुका है कि इसे और रगड़ने की ज़रूरत नहीं। रेखागणित की स्वतः सिद्धि भी इस ऐतिहासिक सूत्र के मुकाबिले में क्या स्पष्ट होगी ?

अनजाने देखने वाले को इतिहास एक विचित्र नाटक सा लगता है। कहीं भयंकर मारकाट, कहीं शानदार राजदर्बार, कहीं नीचता और विश्वासघात के रोमांचकारी षड्यंत्र और कहीं अचम्भे में डालने वाले स्वार्थ-त्याग, ये सब उसकी छोटी बुद्धि और कोमल मन को घबराहट में डाल देते हैं। कुछ नहीं सूझता। बड़ी कठिन पहेली है ! किन्तु ज़रा विचार करने पर इन रौद्र और शान्त दृश्यों के अन्दर एक ही सूत्र बंधा दीखता है। रुधिर की नदियों और राजतिलक की सजावटों में, विश्वासघातों और आत्मसमर्पणों में, क्रूरताओं और प्रेम के आश्चर्यकारी दृश्यों में, जेलखानों और भयंकर तपस्याओं में एक ही नियम काम करता दीखता है। एक पहाड़ की चोटी पर खड़ा है और दूसरा अन्धेरी गुफाओं में रेंग रहा है ; एक जाति विलास और भोग में पानी की तरह सोना बहाती है और दूसरी भूखों तड़पकर मरती है, नाना प्रकार की विषमतायें हैं, पर फिर भी सब एक ही माला की कलियां है। इस समता के सूत्र को—इस एकता के सिद्धान्त को यदि प्रत्यक्ष देखनी हो तो एक बार सभ्यता देवी के पद-चिन्हों पर चलते हुए संसार की सैर कर जाइए।

किसी समय इसी पुण्य-भूमि को संसार की शिरोमणि होने का सौभाग्य था। उस समय इसके सुपूत संसार की जातियों के कर्ताधर्ता थे। इसकी सभ्यता के चमकते प्रकाश से सभी देश प्रकाशित होते थे, इसके दीपकों से सब अपने 2 दीपक जलाते थे। किन्तु समय बदलता गया, भारत का दीपक धीरे 2 मन्द होने लगा, और वह देखो

उसके पश्चिम में सभ्यता का दीपक प्रकाशित होने लगा। यूनान की रम्य पहाड़ियों में जिस समय सभ्यता का प्रकाश हो रहा था, योरप के बर्फानी जंगलों में अभी भयानक अन्धेरा था। पर जिस तरह की आन्धी ने भारत के दीपक को मन्द कर दिया था, एथैन्स के उद्यान में भी वही अपने दल-बल के साथ जा पहुंची।

सभ्यता के प्रकाश ने रोम के सुन्दर प्रदेश में शरण ली। फिर वही बात और फिर वही दृश्य। रोम को सूना छोड़कर रोमन विचारों के साथ साथ उसने ऐल्प्स पर्वत को पार किया। एकता, स्वाधीनता और उन्नति के भावों ने योरप की पुरानी गन्दगी के विरुद्ध क्रान्ति की घोषणा करदी। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक क्रान्तियां सभी देशों में क्रम से होती चली गयीं। जहाँ 2 प्रकाश गया, गन्दगी के ढेरों में सड़ांद करते हुए परमाणु छिन्न-भिन्न हो गए। अमेरिका के विस्तृत मैदानों को प्रकाशित करके उस प्रकाश नें जापान को प्रकाशित किया, और फिर भारत में प्रवेश किया।

किन्तु क्या हुआ? भारत ने उस प्रकाश को अस्वीकृत कर दिया, बड़े आश्चर्य के साथ उसने देखा कि जिस दीपक को सुगन्धित द्रव्यों की ज्वाला से उसने प्रज्वलित किया था, उसमें आज उनके बदले मट्टी का तेल जल रहा है। जिस सभ्यता को उसने प्रेम और भ्रातृभाव के विचारों से पुष्ट किया था, वह अब अशान्ति और कलह के भावों को उसके सामने ला रही है। एक बार जो ज्योति उसने उत्पन्न की थी, वह अब खराब हो गई उस ज्वाला का बुझकर एक नई ज्योति प्रत्वलित करने की ज़रूरत थी। पुरानी ज्वाला यदि अब तक नहीं बुझी तो वर्तमान युद्ध की रुधिर की धाराओं से बुझ जायेगी। दूसरी ओर एक नई ज्योति उसका स्थान लेने के लिए फिर इसी पुण्य भूमि में प्रज्वलित हो रही है। इस नई ज्योति की राह देखने के लिए, सभ्यगण, फिर एक बार मन के घोड़े को दौड़ा कर उसी केन्द्र पर ले आईए जहां पर पहिले चले थे, और एक नये मार्ग में उसे चलने दीजिये।

बुद्ध और शंकर के प्रताप और यश से चमकती हुई भूमि में थोड़े ही समय के बाद आप विचित्र भेद पायेंगे। विद्वान् ब्राह्मण एक ओर हैं, वीर क्षत्रिय दूसरी ओर खड़े हैं, उधर धनी वैश्य और सच्चे सेवक विद्यमान हैं, सब सामान पड़ा है, पर कोई इन सब को इकट्ठा करने वाला नहीं? ऐसे समय में सादे तपस्वी और जोशीले मुसलमानों ने भारत की प्राचीन भूमि पर आक्रमण कर दिया। घोर युद्ध, दृढ़ मुकाबिला, आशातीत वीरता, सब ने इस प्रवाह को रोकना चाहा; पर विश्वास-घात और कमज़ोरियों के छिद्रों ने उसे मार्ग दे दिया।

भारतवर्ष मुसलमानों के पैरों तले रौंधा जाता है। पर थोड़े ही समय में इस नई बाढ़ का पानी भी उसी रंग में रंगा गया। भारत के महासागर में मुसलमान भी एक नदी की तरह आ मिले ! इतने में बड़ी सजधज के साथ योरपियन जातियों ने रंग स्थली में प्रवेश किया। बहुत देर तक राजनैतिक उथल पुथल हुई; हिन्दू, मुसलमान, मराठे-सिक्ख, सभी ने नये आक्रमण का वीरता से मुकाबिला किया; पर पुराने छिद्र भी खुले हुए थे। अंग्रेज जाति भारत की स्वामिनी बनी।

राजनैतिक उथल-पुथल का अन्तिम द्रश्य 1857 ईसवी में सामने आया, और इसके बाद एक गम्भीर शान्ति और मरघट की सी सुनसान का दृश्य दीखता है।

किन्तु जहां एक ओर शान्ति होती है, वहां एक दूसरी हलचल शुरू होती है। पश्चिमी सभ्यता की ज्वाला—वही ज्वाला जिसे हम अभी देख कर आये हैं—भारत के मानसिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रकट होती है। आर्यजाति की जर्जरित सभ्यता पर जवान पश्चिमी सभ्यता नास्तिकता के हथियारों से आक्रमण करती है ! एक ओर सदियों का पुराना अन्धविश्वास, दूसरी ओर ईसाई मत के कमजोर पर राज्य की सहायता पाते हुए सिद्धान्त-हिन्दू समाज में एक खलबली पड़ गई, हिन्दू युवक के मस्तिष्क में गड़बड़ होने लगी।

अनुभवी विद्वान् उस समय कहते थे कि एक महापुरुष की जरूरत है—ऐसे पुरुष की जरूरत है जो बाढ़ में बहते हुए युवकों को एक बार किनारे लगादे-एक व्यक्ति की जरूरत है जो दही और पानी के इस मंथन में मक्खन को ऊपर निकाल दे। समय चाहता था कि कोई सुधारक आये, और वह सुधारक समय की गोद में ही पल रहा था। वह आया, और नये पुराने का मन्थन करके सत्य के मक्खन को तैरा गया। हिमालय की सब से ऊंची चोटी पर खड़े हो कर उसने सत्य का सन्देश सब दिशाओं को सुनाया। भारत में एक नई ज्योति प्रज्वलित हुई। यह वही ज्योति है, जिसे देख कर अमेरिका के योगी एण्ड्रो जैक्सन डैविस का हृदय आशा की उमंगों से खिल उठा था।

सभ्यगण क्या अभी यह बतलाने की जरूरत है कि वह कौन सी ज्योति है ? और कौन सा महापुरुष है ?

२. स्वामी दयानन्द का इतिहास में प्रवेश और कार्य

सन् 1857 के बाद से भारतवर्ष के इतिहास में एक साम्प्रदायिक और सामाजिक हलचल शुरु होती है। केवल राजनैतिक पार्श्व को देखने वाले लोग समझते हैं कि इस समय यह देश गम्भीर निद्रा में सो गया, किन्तु वस्तुतः इस समय से एक नया जीवन और नई तैयारी आरम्भ होती है।

इससे पूर्व आर्य जाति अपने पुराने हथियारों से विदेशी आक्रान्ताओं का मुकाबिला करती थी, पर इस समय इस सिद्धान्त का आविष्कार किया गया कि "आर्य जाति का शरीर इतनी देर की लड़ाई से घायल हो गया है। उसकी शक्तियों में फूट, सामाजिक दोषों और विश्वासघात का घुन लग चुका है। अतएव कुछ और शुरू करने से पहिले उसे इस बीमारी का इलाज कराना चाहिए।" इस आविष्कार को करने वाले और भारत में नया जीवन फूंकने वाले महापुरुष का नाम

स्वामी दयानन्द सरस्वती

था। अपने समय का वह मुख्य नायक था। इस समय का नाम हम बिना किसी संकोच के "दयानन्द-काल" रख सकते हैं। दो विरोधी सभ्यताओं की मिश्रित धारा में पड़ी हुई जाति की नैया का वही खेवैया बना। इस खलबली के समय में जाति के अग्रसर युवकों का वही मार्ग-दर्शक अगुआ बना। वर्तमान हलचल में जाति का उच्चतम भाग उसी के विचारों से प्रभावित हुआ।

वह इतिहास का ग्रंथ अपूर्ण होगा जिसमें इस बड़े अगुआ का - इस भारी सुधारक का - उल्लेख न हो। १९वीं शताब्दी में वह "भारतवर्ष का पिता" कहला सकता है। इस महापुरुष ने आर्य जाति के इतिहास में कैसे प्रवेश किया था? क्या कार्य किया? और उसका क्या प्रभाव हुआ? इसी को आज हम संक्षेप में देखेंगे।

कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पूर्व यह महान् व्यक्ति कौन था और कैसा था? इन बातों पर यहां विचार नहीं करना होगा। इतना काफी है कि वह एक होनहार बालक था। जिस समय वह सांसारिक सुख और सुखमय घर को छोड़ कर निकला, उसके मन को प्रेरणा देने वाला भाव मृत्यु से बचना वा मोक्ष की प्राप्ति थी। विन्ध्य, आबू और हिमालय के जंगलों में वह इसी खोज में घूमता रहा। इस उद्देश्य में उसे सफलता हुई वा नहीं - यह भी आज का विषय नहीं हैं। पर इस १४ वर्ष की खोज में, नर्मदा की तलैटी से गंगा के स्रोत तक भ्रमण करते हुए - न जाने किस घटना से और किस प्रकार से - उसका ध्यान अपनी मातृभूमि की करूणा जनक दशा की तरफ गया। उसने देखा कि आर्यजाति की ठीक जड़ में जाति भेद, छूतछात, बाल विवाह और अन्ध विश्वास के कीड़े लगे हुए हैं। परस्पर घृणा, फूट और विश्वासघात ने जाति की शक्तियों का सत्यनाश कर दिया है। जब तक इन खराबियों का प्रतीकार न किया जाए, जब तक स्त्री पुरुष, ब्राह्मण शूद्र सबको समता के सूत्र में बांधा न जाये, आर्य जाति का तब तक कल्याण नहीं हो सकता। जाति के स्वास्थ्य के लिए इन बुराइयों का हटाना और किसी बड़े उद्देश्य का सामने रखना जरूरी है।

पर यह कैसे हो ? दयानन्द में शक्ति कहां है कि वह इन भारी उद्देश्यों को प्राप्त करे ? विचार शील युवक को मालूम हुआ कि अभी शिक्षा पाने को जरूरत है । ३५ वर्ष की अवस्था ! वर्तमान समय के बाबू का जिस आयु में बुढ़ापा समाप्त होता है, दयानन्द उस आयु में शिक्षा पाने के लिए अपने प्रज्ञा चक्षु गुरु के चरणों में बैठता है । निःसन्देह उसकी शिक्षा रिवाज़ पूरा करने के लिए न थी, पर किसी उद्देश्य से थी ।

शीघ्र ही शिक्षा समाप्त हुई, शक्ति-संग्रह हो चुका, अब कार्य-क्षेत्र में उतरने का समय है । १८६३ ईसवी की वसन्त ऋतु की जब पहिले पहिल स्वामी दयानन्द ने कार्य क्षेत्र में प्रवेश किया ।

सभ्यगण ! उस उद्देश्य को आंखों के सामने लाइये । एक अकेला युवक तीस करोड़ जनता के मुकाबिले के लिए खड़ा है । किसी प्रकार की तैयारी नहीं है, कोई भूमिका नहीं बंधी, अपने आप ही जंगल में निकाल कर उस में चलना होगा । जाति नींद में पड़ी है, उसे सपने में भी मालूम नहीं कि क्या होने वाला है ? अकेला युवक, कोई भी उसका साथी नहीं जिसके वे ही विचार हों ! ऐसे समय में एकदम इतने बड़े कार्य का आरम्भ करना किस का काम है ? कहां से शुरू करूं ? कैसे करूं ? कौन सहायक होगा ? साधारण आदमी को तो ये ही विचार उठने नहीं देते । सदियों से मूर्ति-पूजा में लगी हुई सोती जनता को एकदम यह कह देता कि मूर्तिपूजा बुरी बात है - किस का साहस होता हैं ? पर महापुरुष वही है जो सत्य उद्देश्य की ओर आंख लगाये हुए किसी की परवा नहीं करता । सफलता होगी या नहीं ? इस की उसे परवा नहीं होती । स्वामी दयानन्द पर कठोरता का आक्षेप किया जाता है, पर यदि इस दशा की कल्पना की जाय, यदि इस पर ध्यान दिया जाय कि उसका कार्य कितना बड़ा था, तो कोई यह आक्षेप नहीं करेगा । सामाजिक दोषों का भारी वृक्ष जो उसे काटना था, उस्तरे से नहीं छिल सकता था, उसके लिए कुल्हाड़े की जरूरत थी ।

इसी कुल्हाड़े को लेकर दयानन्द अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ, यद्यपि उसके मन में प्रेम की धारा बहती थी । किन्तु कार्य में पड़े हुए देर न हुई थी, कि एक बड़ा तूफान आया । हरिद्वार का कुम्भ यह तूफान था । अन्धविश्वास का बल कितना है, यह इसी में मालूम हो सकता था । साहसी युवक का चित्त भी एक बार डगमगा गया, पर फिर शक्ति-संचय करके उठ खड़ा हुआ ।

व्याख्यान, शास्त्रार्थ, उपदेश, विवाद, पुस्तकें, पैम्फलेट, सभी रूप में उसकी शक्ति उसी प्रकार बहने लगी, जिस प्रकार एक शुद्ध स्रोत से पानी बहता है । किसी रुकावट

की उसे परवाह नहीं होती, जो सामने आये वही धुल जाता है। जाति की अवस्था का ठीक 2 अध्ययन करके और उसके सुधार के लिए शक्तिसंग्रह करके स्वामी दयानन्द कार्य क्षेत्र में उतरा था, इसी लिए उसे कोई रुकावट न थी, शक्तियों का प्रवाह एक दम बह निकला। उसका विरोध हुआ, भारी विरोध हुआ, पर विरोध उसके आत्म विश्वास के सामने तुच्छ था। एक मात्र लक्ष्य की तरफ ध्यान लगाये हुए वह मार्ग के विघ्नों के बिना देखे चलता गया। उसका हृदय विरोध से सन्देह में पड़ने वाला न था। निराशा, भय और स्वार्थ का उसे स्वप्न में भी ध्यान न था। स्वामी दयानन्द का नाम सुनते ही यदि सब से पहिले कुछ ध्यान में आता है, तो वह यही निर्भय और आगे धकेलने वाला स्वभाव है।

देखने वाले को आश्चर्य होता है कि एक सच्चे प्रेमी का इस प्रकार का विरोध क्यों किया जाता था, पर आश्चर्य की बात नहीं, सुधारकों के साथ सदा ही यह वर्ताव होता है। वैद्य के नश्तर चलाने पर रोगी भले ही रोये, पर वैद्य को कोई उसका शत्रु नहीं कह सकता।

12 वर्ष तक लगातार यह संहार का कार्य चलता गया, काशी और कलकत्ते के दुर्भेद्य किले गिर चुके, अब रचना का समय आ पहुंचा है। घास फूंस साफ हो चुका और हल फिर चुका, अब बीज बोने का समय आया। यह बीज कौन सा था ? यह बतलाने की ज़रूरत नहीं। निःसन्देह यह आर्यसमाज का बीज था। बम्बई और युक्त प्रदेश में भारी श्रम करने पर भी फल थोड़ा हुआ, किन्तु अन्त में नानक और गोबिन्दसिंह के गाढ़े पसीने से सींची हुई पंजाब की उपजाऊ कर्मभूमि में प्रवेश करते ही उसे सफलता हुई। शीघ्र ही अंकुर निकला, वृक्ष बड़ा हुआ, और आर्य जाति के श्रान्त पथिक उस के नीचे आकर विश्राम लेने लगे।

स्वामी दयानन्द के जीवन का शेषभाग राजपूताने की वीरभूमि में बीता, पर इस समय वह वीरभूमि भोग विलास से कलंकित हो रही थी। अपने नायक के इतिहास में प्रवेश और कार्य को सरसरी दृष्टि से हमने देख लिया है, पर अभी कुछ और देखना बाकी है।

३. स्वामी दयानन्द का वर्तमान और भावी पर प्रभाव

स्वामी दयानन्द के कार्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने से पूर्व भारतपूर्व की जो अवस्था थी, उसका पहिले वर्णन हो चुका है। उस समय और इस समय की तुलना करने से

इस महापुरुष का कार्य सर्वथा स्पष्ट हो जायेगा। उस समय जाति के अग्रगामी युवकों की प्रवृत्ति पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने और अपने आपको पाश्चात्य ढांचे में ढालने की ओर थी; किन्तु वर्तमान काल में जातीय संगठन और जातीय सुधार का कार्य उस प्रवृत्ति का स्थान ले रहा है। यह प्रभाव स्वामी दयानन्द के ही कार्य का हुआ है।

स्वामी दयानन्द का सारा कार्य दो भागों में विभक्त हो सकता है—एक तो प्राचीन आर्य जाति का सुधार और दूसरा नवीन सभ्यता के आक्रमण को रोकना। इस सारे कार्य को यदि एक कार्टून के रूप में दिखलाना हो तो इससे अच्छा कार्टून क्या हो सकेगा कि दयानन्द अपने दांये हाथ में नश्तर लिए हुए चारपायी पर बीमार पड़ी हुई आर्यजाति के फोड़ों को एक तरफ चीर रहा है, और दूसरी तरफ बड़े वेग और शान से आक्रमण करती हुई पश्चिमी सभ्यता के हमलों को बायें हाथ में पकड़े हुए भाले से निष्फल कर रहा है।

ये दो हाथों के दो कार्य इतने बड़े हैं कि इस समय तक इन्हीं कार्यों का विस्तार भारतवर्ष के युवकों की प्रत्येक क्रिया में फैला हुआ है। स्वामी दयानन्द का बड़प्पन इसी बात में है कि उसका कार्य सर्वतोमुख है। जिस काम को उसने अपने हाथ में लिया, उसमें किसी अंश में कोई कसर नहीं छोड़ी। जिस जाति का सुधार उसे करना था—जिस रोगी की चिकित्सा उसे करनी थी—उसकी छोटी से छोटी बुराई और छोटे से छोटे रोग का उसे ध्यान था। कोई बात उसकी आंखों से बच नहीं सकती थी। आत्मा और परमात्मा के कठिन प्रश्नों से लेकर भोजन पान के विषय तक सभी का उसने सुधार किया। शिक्षा, ब्रह्मचर्य, सामाजिक सुधार, सभी प्रश्नों को उसने हल किया।

किन्तु इन सर्वतोमुख कार्यों के बीच में जो प्रेरक भाव प्रत्येक की तह में काम करता था, वह एक सत्य-धर्म और एक संगठित भारत वर्ष बनाने का था। आज कल के जातीयपक्ष के नेता दयानन्द को जातीयता का आरम्भिक सन्देश देने वाला भले ही न कहें पर निष्पक्षपात व्यक्ति को यह मानना होगा। कांग्रेस के नेता जिस समय अपना बड़प्पन और सौभाग्य अंग्रेजी चाल ढाल के अनुकरण में समझते थे, उस समय अकेला स्वामी दयानन्द स्वदेशी की आवाज उठाने वाला था। आर्य भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने का किसी को सपना भी न आया था, जब कि दयानन्द ने इस कार्य की नींव रक्खी। अछूत जातियों के उद्धार में भाग लेने वाले अब भी आर्यसमाज के बाहिर कितने सज्जन हैं ?

सारांश यह कि भारतवर्ष में जितने भी जीवन युक्त कार्य इस समय हो रहे हैं, और जितनी भी जीती जागती संस्थायें विद्यमान हैं, दयानन्द के भाव और दयानन्द का आत्मा उन सब में काम कर रहा है। यह बिना हिचकिचाये कहा जा सकता हैं कि जो लोग उसका नाम लेते घृणा करते हैं, उन में भी यदि किसी प्रकार का जीवन आया है तो उसीं के कारण आया है। सनातनधर्म सभा, जैनसभा, सिंहसभा और भिन्न 2 प्रकार की संस्थाएं कभी न बनतीं, यदि आर्यसमाज का उद्भव नहीं होता। सम्भव था कि उस अवस्था में इन सभाओं के नेता अब तक ईसाई धर्म की छाया में जा चुके होते। प्रत्यक्ष रूप में यह समझा जाता है कि ये संस्थायें आर्यसमाज का और स्वामीं दयानन्द के भावों का विरोध कर रही हैं, पर वस्तुतः ये उन भावों को किसी हद तक बढ़ाने का साधन ही बन रही हैं। इस में सन्देह नहीं कि जहां आर्य समाज के अभाव में ये लोग ईसाई बनने से मुश्किल से बचते, वहां अब वे सम्प्रदाय को और पाश्चात्य सभ्यता के प्रवेश को रोकने में कुछ हद तक आर्यसमाज का हाथ बंटा रहे हैं। जिन बातों के लिए किसी दिन वे स्वामी दयानन्द पर ईंटों की वर्षा करते थे, उन्हीं बातों का केवल आर्यसमाज का मुकाबिला करने के लिए उन्हें आश्रय लेना पड़ता है। चाहे स्पष्ट रूप में वे आर्यसमाज के विरोधी हैं पर स्त्री शिक्षा, शुद्रों को पढ़ाना, ऋषि कुलों और कन्या पाठशालाओं का स्थापन तथा अन्य अनेक सुधार के कार्यों में उन्हें आर्य-समाज के कारण ही ध्यान देना पड़ा है। मतलब यह कि उनमें यदि जीवन आया है, तो स्वामी दयानन्द के प्रभाव से ; और यदि कोई गति हुई है, तो स्वामी दयानन्द के प्रभाव से।

इस महासुधारक ने आर्यजाति के मृतप्राय देह के अन्दर फिर से जीवन फूंक दिया है। जब कोई जाति किसी प्रकार की उन्नति और आगे बढ़ने में तत्पर नहीं होती, जब उसके युवकों की वेगवती शक्तियां को काम में लगाने वाले किसी प्रकार के ऊंचे उद्देश्य जाति के सामने नहीं रहते, जब स्वार्थ साधन ही उसके प्रत्येक सदस्य का मुख्य उद्देश्य रह जाता है, तब बन्द तालाब की तरह उसमें सड़ांद पैदा होती है और जाति का शीघ्र नाश हो जाता है। स्वामी दयानन्द के आगमन के पुर्व आर्य-जाति की यही अवस्था थी। कोई प्रश्न हल करने के लिए न थे, कोई ऊंचे उद्देश्य प्राप्त नहीं करने थे। किन्तु स्वामी दयानन्द का बड़ा भारी उपकार आर्यजाति पर यही है कि उसने छोटे से बड़े तक प्रत्येक पुरुष के सामने कोई न कोई प्रश्न उपस्थित कर दिया है। शिक्षित पुरुषों के सामने बाधित शिक्षा, ब्रह्मचर्य, स्त्री शिक्षा आदि के प्रश्न उपस्थित हैं; देश सेवको के लिए राष्ट्रभाषा और स्वदेशी के प्रचार की समस्यायें हैं, सुधारकों के लिए अछूत जाति उद्धार का प्रश्न है, साधारण जनता के लिए मूर्तिपूजा का विचार उपस्थित है; विद्वानों के लिए वेद के अर्थों पर विचार और देश भाषा का साहित्य पूरा करने के काम हैं। फलतः सारी जाति में बड़े-2 उद्देश्यों के लिए गति पैदा हो गई है।

जिस सामाजिक हलचल में स्वामी दयानन्द का कार्य शुरू हुआ था वह अभी समाप्त नहीं हुई। प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यताओं का मुकाबिला अब तक चल रहा है, किन्तु इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि जिस विजय की आशा से आक्रान्ता ने आक्रमण किया था, वह निष्फल सिद्ध हुई। आक्रमणकारी को औंधे मुंह गिराना पड़ा, उस की आशायें नष्ट हुई। यद्यपि राज्य के कारण उसे अब तक आश्रय मिला हुआ है, पर जिस सफलता की आशा थी, वह नहीं हुई। जाति का उत्कृष्ट भाग दयानन्द के विचारों के आगे झुक गया।

दयानन्द का ठप्पा केवल समकालीन विचारों पर ही नहीं लगा, पर उसका प्रभाव भविष्यत् में दर 2 तक पहुँचेगा। उसकी हुई क्रान्ति इतिहास में बड़े 2 परिणाम लायेगी, उसकी शिक्षायें बड़े 2 कारनामें बनाएंगी। कौन जानता है कि क्या होगा? पर सब को विश्वास है कि कुछ न कुछ होने वाला है। कौन जानता था कि गुरुनानक की सीधी-सादी शान्तिमय शिक्षायें किसी दिन अत्याचारी मुगल राज्य के मुकाबिले में समर्थ होंगी? कौन जानता था कि मुगल राज्य के पैदा होने से भी पूर्व महाराष्ट्र में सुधारक गण उसके नाश का बीज बोने के लिए मैदान तैयार कर रहे हैं? कौन जानता है कि स्वामी दयानन्द का सत्योपदेश भावी में किन 2 पापों का समूल नाश करेगा? सत्य का प्रकाश किसी खास उद्देश्य से नहीं होता, जो बुराई सामने आये, जो पाप पैदा हो—चाहे वह नया हो चाहे पुराना—सत्य की कठोर शस्त्रधारा में स्नान किए बिना नहीं बचता।

हमें विश्वास है—और पूरा विश्वास है—कि किसी दिन ऋषि दयानन्द के भाव संसार की बड़ी 2 पापमय शक्तियों का नाश करेंगे, दिन आयेगा जब ये भाव संसार चक्र को हिलाने में एंजिन का काम करेंगे संसार के बड़े 2 विकट प्रश्नों का उत्तर इन्हीं भावों में मिलेगा। परमेश्वर करे उस शुभ दिन का शीघ्र आगमन हो।

४. अन्तिम वचन

ऋषि दयानन्द कौन था, क्या था और उसने क्या किया? ये सब बातें हो चुकीं। पर इनसे हमें क्या लाभ हुआ? कोई उद्यान कितना ही सुन्दर हो, पर जब तक हमारे अधिकार में नहीं, हमें उससे क्या लाभ? मोतियों का हार कितना ही कीमती हो, जब तक हमारे गले में नहीं पड़ा उसकी चिन्ता करना निरर्थक है। दर्पन कितना ही अच्छा हो अन्धे के लिए उसकी कीमत पैसा भर भी नहीं है। भोजन कितना ही स्वादु हो पर रोगी के लिए उसकी चिन्ता करना लाभ के बदले हानि करेगा। इसी प्रकार जीवन कैसा ही उच्च क्यों न हो, यदि हम उसका अनुकरण नहीं कर सकते—उसे ज्योतिः स्तम्भ नहीं बना सकते—हमें कोई लाभ नहीं।

ऋषि दयानन्द के भावों ने यदि हमारे हृदय में कुछ प्रेरणा की है, उसके पवित्र उजले चरित्र ने यदि किसी निराशा के समय हमारे मन को सहारा दिया है, उसके सारे यत्न से यदि हम कुछ भी लाभ उठाना चाहते हैं, तो उसकी एक सर्वोत्कृष्ट शिक्षा को हमें कभी न भूलना चाहिए। वह शिक्षा यह है कि "सामाजिक जीवन को बनाने के लिए वैयक्तिक जीवन की जरूरत है। अच्छा राष्ट्र बनाने के लिए अच्छे मनुष्यों की ज़रूरत है"। हमारे अन्दर कितना ही जातीय जोश हो, यदि हमारे वैयक्तिक जीवन उच्च नहीं तो उस से कुछ भी लाभ नहीं। देश-प्रेम और जातीयता का सर्वोत्तम जोश अपने जीवन के बनाने और अपने शरीर और मन को पुष्ट करने में प्रकट होता है। क्या ही अच्छा हो यदि ऋषि दयानन्द का उज्वल चरित्र हमारे जीवन के सुधार में थोड़ा भी सहायक बन सके, और हम सब समर्थ और अधिकारी हृदयों के सच्चे विश्वास के साथ फिर यह आशा कर सकें—"जैसा था पहिले भारत उससे भी बढ़के होगा। जब मेरा भाई 2 भारत की भेंट होगा।"

(साहित्य परिषद् के ऋष्युत्सव में ब्र० जयचन्द्र द्वारा पठित)

(संदर्भप्रचारक/भाग २७/कार्तिक तथा मार्गशीर्ष ५ संवत १९७२ पृ० के संघ तक से उद्धृत)

— 0—

एक कहानी

ज्ञानदेव का वर

ले० माननीय बलभद्र कुमार जी हूजा।
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

ज्ञानेश्वरी के अन्त में ज्ञानदेव महाराज ने परमात्मा से वर मांगा कि वह उन्हें प्रसाद दे। क्या प्रसाद दे? क्या वर मांगा उन्होंने? वर मांगा कि जो खल हैं, उनकी वक्रता दूर हो, उन्हें सत्कर्मों में रस प्राप्त हो। सर्वत्र मैत्री की भावना फैले। इस पृथ्वी पर विचारवान् व्यक्तियों की वर्षा हो, ऐसे व्यक्तियों की जो ईश्वरनिष्ठ हों। वे लोगों से सतत मिलते रहें और सूर्य की भांति सर्वत्र प्रकाश करें, परन्तु उनमें सूर्य की प्रखरता के बजाय चन्द्र की शीतलता हो। वह समाज में सदा घूमते रहें और कल्पतरु की भांति लोगों की कामनाएं पूर्ण करें। कल्पतरु तो एक स्थान पर खड़ा रहता है परन्तु ज्ञानदेव महाराज ऐसे कल्पतरु मांगते हैं जो घूमते फिरते रहें, दरिद्र नारायण के द्वार पर पहुंचे। वह चाहते हैं कि हमारे ग्राम चेतनामय हों। तमोगुण के बजाय सतोगुण का राज्य हो। वह चाहते हैं कि सारा समाज अनंत सागर की भांति भक्तिमय हो।

यही विद्यालयों का, विश्वविद्यालयों का, गुरुकुलों का लक्ष्य है, अथवा होना चाहिए। विद्यालयों का वही कर्तव्य है कि ऐसे सत्पुरुष पैदा किये जाएं जो सतोगुणी हों मानव मैत्री की भावना से प्रेरित हों, लोगों के बीच जाकर कल्पतरु की तरह उन की कामनाएं पूरी करें। उनके दुःख, कष्ट, संताप को हरें। सर्वत्र शीतल चन्द्रमा की तरह प्रकाश करें, अन्धयारे का नाश करें।

लेकिन यह मनुष्य रूपी पुतला है बड़ी अजीबोगरीब चीज़। इसके अन्दर सदा उथल-पुथल मची रहती है। सदा संघर्ष होता रहता है सतोगुणी और तमोगुणी शक्तियों का पलड़ा भारी होता है, तो कभी तमोगुणी शक्तियों का। गुरुजनों का, माता पिता का, शिक्षा संस्थानों का लक्ष्य होना चाहिए कि सतोगुणी शक्तियां तमोगुणी

शक्तियों पर हावी हों और केवल नई पीढ़ियों में ही नहीं, परन्तु स्वयं में भी शुभ विचारों एवं शुभ आचरण की प्रवृत्तियां फलित हों। पर यह कैसे हो ?

व्यवहार शास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि व्यक्ति का आचरण उसके विचारों पर आधारित होता है। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही आचरण बनता है। मनुष्य का अहं जिस प्रकार के व्यक्तित्व की श्लाघा करता है, उसका आचरण भी उसी प्रकार ढलता है। प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई आदर्श व्यक्ति होता है। आदर्श व्यक्ति और अपने के बारे है जैसी उसकी धारणा होती है (चाहे काल्पनिक ही हो) वह उसके अनुसार अपने आचरण को ढालता है। कोई व्यक्ति अपना आचरण सफल खिलाड़ियों के जीवन के अनुसार ढालता हैं, तो कोई सिनेमा के सितारों के अनुसार। कोई साधु संन्यासियों को अपना आदर्श व्यक्ति मानते हैं, तो कोई पूंजीपतियों को अथवा सैनिक अधिकारियों को।

विचार में असीम शक्ति है। विचार ही मनुष्य के आचरण को प्रेरणा देते हैं। इसीलिए सभी धर्म प्रचारक शुभ विचारों के महत्त्व पर जोर देते हैं। इसीलिए वेदों में गायत्री को गुरुमन्त्र की संज्ञा दी है। किसी ने गायत्री के बारे में ठीक ही कहा है—

महामन्त्र जितने जग माहीं,
कोऊ गायत्री सम नाहीं।
सुमिरिन हिय में ज्ञान प्रकासे,
आलस पाप अविधा नासे ॥

गायत्री के महत्त्व को समझाने के लिए पहले हमें उसके अर्थ को ग्रहण करना होगा। सरल हिन्दी में गायत्री का अनुवाद इस प्रकार होगा—

हे प्राणाधार, दुःखों का नाश करने वाले, आनन्द स्वरूप, रक्षक ! जगत के सर्जनहार, वरणयोग्य शुद्ध स्वरूप और पवित्र करने वाले तेज को हम धारण करें। आप हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दें, सन्मार्ग पर ले चलें। हमारी बुद्धियों को सही मार्ग पर ले चलो, हे भगवान् यही हमारी प्रार्थना है, यही हमारी कमाना है।

यदि बार-बार इस मन्त्र का उच्चारण किया जाये, इस पर मनन किया जाए तो अवश्यमेव बुद्धि पर इसका असर होगा ही। संसार में विचरते हुए, संसार क्षेत्र में संघर्ष करते हुए मन पर हर प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं, कई प्रकार का मैल इकट्ठा होता है। उसको धोने के लिए शुभ विचारों की गंगा में स्नान करना आवश्यक हो जाता है और उस गंगा का उद्‌गम स्रोत है गायत्री मन्त्र।

महर्षि दयानन्द गायत्री के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

''जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जाकर सावधानता पूर्वक जल के समीप स्थित होकर नित्य कर्म करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मंत्र का उच्चारण अर्थ-ज्ञान सहित करें और उसके अनुसार अपने चाल चलन को बनावें। यह जप मन से करना उत्तम है।''

महर्षि साधकों को गायत्री जप बतलाया करते थे। एक बार महाराज ग्वालियर से आपने कहा कि भागवत सप्ताह की अपेक्षा गायत्री पुरश्चरण अधिक श्रेष्ठ है।

स्वामी विवेकानन्द ने गायत्री को सद्बुद्धि का मंत्र बतलाया है और कहा है कि परमात्मा से मांगने योग्य यदि कोई वस्तु है तो सद्बुद्धि है। सद्बुद्धि से सन्मार्ग मिलता है सत्कर्म होते हैं, तभी सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है।

कविवर टैगोर ने तो यहां तक कहा है कि भारतवर्ष को जगाने वाला सरल मंत्र गायत्री है। इसके उच्चारण करते समय ऐसा अनुभव करना चाहिए कि मैं किसी देश विशेष का वासी नहीं हूँ अपितु सारा जगत मेरा है। मैं सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों आदि के बीच खड़ा हूँ। यह सारा संसार जिस शक्ति से सुशोभित है, परिचालित है, उस दिव्य ज्योति का हम ध्यान करते हैं, उसका हम वरण करते हैं, वह हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दे।

आइये, हम भी ज्ञानदेव की तरह परमात्मा से वर मांगे कि हम पृथ्वी पर विचारवान् ईश्वरनिष्ठ व्यक्तियों की वर्षा हो जो समाज में सदा घूमते रहें और कल्पतरु की भांति लोगों की कामनायें पूरी करने हेतु दरिद्र नारायण के द्वार पर पहुँचे। तमोगुण का नाश हो, सतोगुण का राज्य हो।

— 0 —

लन्दन में गुरुकुल सहभोज
(ले०—महात्मा मुंशी राम जी)

हमारे हाकिमों की विलायत में सब काम विलायती ही होते हैं। जहां भारतवर्ष में इस समय बिना दाना पानी के लालच के भी सभा सभाओं में सहस्रों नरनारी एकत्र हो जाते हैं, वहां इंग्लिस्तान की विलायत में बिना चोगे के प्रलोभन दिए गए एक मानवी जानवर को भी कोई फांस नहीं सकता। इसलिए गुरुकुल का जन्मोत्सव मनाने वालों को भी भोजन का लालच देना पड़ा। पर इस से एक बड़ा लाभ हुआ; जिस लण्डन में कोई भी ऐसा सहभोज नहीं होता जिस में मांस का अधिक मान न हो वहां इस सहभोज में मांस का सर्व अंशों में त्याग किया गया। सब के लिए निरामिश्र भोजन था।। यह सौभाग्य गुरुकुल को ही प्राप्त है कि जहां उस के संसर्ग में आते ही कई ईसाई और मुसलमान सदा के लिए निरामिश्रभोजी हो गए वहां उस के नाम पर इकट्ठी हुई सभा के कारण भी कई व्यक्ति कम से कम एक समय दुष्ठ मांस भोजन से बच गए। ट्रिब्यून लाहौर के सम्वाददाता लिखते हैं कि लन्डन में कई हिन्दुस्तानियों के मिलाप होते हैं परन्तु यह पहला ही अवसर था कि वे सब शुद्ध शाकफलभोज के लिए एकत्र हुए।

गुरुकुल के पुराने मित्र महाशय रैंज़ेमेकडानल्ड सभापति थे। उन्होंने पहले सम्राट और राज परिवार का प्रस्ताव उपस्थित किया और उसके पीछे गुरुकुल के सम्बन्ध में कहा :—

I must first of all thank you for asking me to preside here. I have been to the Gurukula and have seen its work, and consequently I consented with pleasure to take the chair for several reasons. When I went to India I heard insinuations against the Arya Samaj, which as in the case of other great institutions, are for the purpose of explaining not what they are, but what they are not.

I would not have ventured to publish a book on India after the brief experience of my first visit, had it not been for the pressing commands of Lord Morley. One of the chapters dealt with the Arya Samaj but its purpose was not so much to explain but to defend for at the time the Arya Samaj was regarded as a seditious organization.

The official attitude is different today ; the black books were closed when Sir James Meston visited the Gurukula and the white books were opened tor future use ; my only fear is that the Gurukula would become too respectable. The Samaj is beginning to be understood, and when it is so, it will be appreciated, but we must assume for the future that the Arya Samaj, like every other institution, can only do its best if it is criticised, sympathetically and is looked upon with a friendly eye. I feel pleasure in coming here because I respect Gurukula. I am also here tonight because I can never forget my arrival at Hardwar on a beautiful summer morning." Here the speaker described the place as he saw it. I "remeber he continued, "so well the magnificent presence of the Principal, who is the spirit and the father of the institution. Mr. Macdonald further said, "One cannot be in the presence of Mahatma ji without feeling that on is in the presence of a man favoured with spiritual magnificence. I should be most ungrateful if I did not carry in my memory the most tender impressions of the Gurukula its Principal and students. It is pursuing the right line of education for India's advancement. I am a member of the Royal commission, hence I can say very little on the subjects referred to us, but start with a slight criticism on education with this fundamental proposition, that every system of education which is going to develop the minds of students is the system connected with the civilisation of the students themselves. Woe for the day when the education of the Scotch passed into the hands of the English ! On that day the death-knell was rung of an ancient Scotch civilisation. The same is the case with India, whose education must find its roots in India itself.

I am convinced that the Gurukula is pursuing the right line of Indian educational advance. The system of education that can develop the mind of the student best, is a system that is based upon the civilisation and traditions of the people who are to be educated. Indian education must find its source, its roots, its inspiration in !ndia itself. The West has a great deal to teach India, and India can not isolate herself from the West. But I am using these words precisely in the same way when I say that the West could not isolate itsels from the East only in so far as East and West learnt from each other; would they both develop, as they ought to do, under modern conditions.

Concluding, Mr. Machdonald said : The origin and the parentage of the Gurukula and the welcome that it gave me, and finally the fact that I believe its system to be scientific and natural, give me pleasure to preside here and to propose the toast of that wonderful 'institution."

इस वक्तृता का अक्षरशः अनुवाद न दे कर इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि श्री महाशय मैकडोनेल्ड की सम्मति में भारतवर्ष में गुरुकुल ही एक स्वाभाविक और वैज्ञानिक शिक्षणालय है और इसी लिए वह उस अवसर पर प्रसन्नता से सभापति बने । उनकी वक्तृता से यह नई बात ज्ञात हुई कि उन्होंने अपनी पहली यात्रा के पश्चात् जो पुस्तक भारतवर्ष की क्रान्ति पर लिखी थी वह भी लार्ड गोरले की आज्ञा से लिखी थी । उस समय तो आर्य समाज के विरोधियों का समाधान करने की आवश्यकता थी परन्तु इस समय सर जेम्स मेस्टन के गुरुकुल में जाने से सन्देह के बादल उड़ गए, काली पुस्तक बन्द हो गई और श्वेत पुस्तक के पत्र भविष्य के लिए खुल गए ।

यहां श्री मैकडोनेल्ड से सन्देह प्रकट किया है कि गवर्नमेंट की संरक्षा में आकर गुरुकुल कहीं अधिक नामी बन जाए । श्री मान् मैकडोनेल्ड महाशय को निश्चय रखना चाहिए की गुरुकुल के लिए (Too Respectable) बनने का अवसर समीप के भविष्य में आने की संभावना नहीं है । जिस प्रेम से महाशय मैकडोनेल्ड ने गुरुकुल, उसके आचार्य और ब्रह्मचारियों का स्मरण किया वह सिद्ध करता है कि यदि सारे यूरप में कोई ऐसा स्थान है जहां से प्रेम और सहानुभूति की आशा हो सकती है तो वह स्काच जाति और उसकी सम्बन्धिनी उपजातियों से हो सकती है ।

इस अधिवेशन में सर कृष्णगोपाल गुप्त इन्डियन सेक्रेटरी आवस्टेट को कौन्सल के माननीय सभासद् भी उपस्थित थे । उन्होंने अतिथियों की ओर से उत्तर देते हुए कहा कि उससे पहले कुछ वक्ताओं ने ऐसा भाव प्रकट किया है कि जिससे आर्य समाज केवल पश्चिमी शिक्षा के विचारों का ही विरोधी सिद्ध हो परन्तु उन्होंने उपस्थित सभ्यों को बताया कि इसे नहीं भूलना चाहिए कि जो बुराइयां हिन्दू मत के गिर्द जमा हो गई हैं उनका भी गुरुकुल वैसा ही विरोधी है । मेरी सम्पति में सर गुप्त ने गुरुकुल की स्थिति को बहुत ही स्पष्ट कर दिया । यदि यह विरोधी है तो सब बुराइयों तथा उल्टी शिक्षा प्रणालियों का चाहे व पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कहीं की भी क्यों न हों ।

इस सभा में प्रसिद्ध कन्सरवेटिव मैम्बर पार्लिमेन्ट सर एम. आव नगरी, मिस्टर आर्नल्ट C. I. S. मिस्टर मीट और मुम्बई के प्रसिद्ध वकील महाशय पारख भी

उपस्थित थे। ऐसे महानुभावों की सहानुभूति बहुत ही आशातीत है।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की श्रेष्ठता इस समय केवल बड़े विचारशील तथा धर्मात्मा पुरुष ही अनुभव करते हैं, परन्तु समय आने वाला है जब कि योरप के सर्व साधारण नर, नारी वर्तमान भयानक सभ्यता से सताए हुए प्राचीन शान्तिदायक वैदिक सभ्यता की शरण आना चाहेंगे। उस समय लोग गुरुकुल के उपचार को समझेंगे और उस बाल ब्रह्मचारी ऋषि के घोषणा पत्र का मान करेंगे जिसने गिरे हुए संसार को स्वर्णीय वैदिक काल का पता दिया था।

(—मुंशीराम)

(सद्धर्मप्रचारक—भाग २७, ज्येष्ठ १६ सम्वत् १९७२ पृ० ५–६ से साभार)

— 0—

उद्योगिनम् पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी

ले० माननीय बलभद्र कुमार जी हूजा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री वेदप्रकाश पीपल्ज़ इंश्योरेंस कम्पनी के सुसज्जित आफिस में बैठे अपने स्टेनोग्राफर को एक पत्र लिखवा रहे थे, कि बनर हुआ। श्री वेद प्रकाश ने टेलीफोन का चोंगा उठाया, और कड़क कर बोले, "तुम्हें कितनी दफ़ा कहा है कि जब मैं डिक्टेशन दे रहा होता हूं, किसी प्रकार का विघ्न नहीं होना चाहिए।" दूसरी ओर से उनका सहायक पी० ए० बोला, साहब, क्या करूं ? एक सज्जन आये हैं। अपने आपको आपके भांजे कहते हैं; विद्याधर नाम है। कहते हैं, बहुत ज़रूरी काम है। अभी मिलवा दो। वेदप्रकाश पिघल गये। विद्याधर उनका फेवरिट भांजा था। आजकल घबराया-घबराया रहता था। उसका कम्पेटीशन का परीक्षाफल निकलने वाला था। सोचा, ज़रूर कोई परेशानी होगी। बोले, "अच्छा भेज दो।" जैसे ही विद्याधर ने कमरे में प्रवेश किया, वेदप्रकाश ने अपने स्टैनो को छुट्टी दे दी और कहा, "तुम जा सकते हो, इन्हीं लाइन पर ड्राफ्ट बना कर मुझे लंच के बाद दिखला देना।" स्टैनोग्राफ़र "यस्सर" करता हुआ बाहर चला गया।

विद्याधर धम्म से उसके द्वारा खाली की हुई कुर्सी में इस तरह गिर पड़ा जैसे गोबर का बना निर्जीव पुतला हो।

"क्यों क्या बात है, विद्याधर ?" वेदप्रकाश ने मुस्कराते हुए पूछा।

"बात क्या है ? खाक। मैं अबकी दफा फिर अनुत्तीर्ण हो गया हूं। न जाने मेरी क़िस्मत में क्या लिखा है।"

"अरे किस्मत में तुम्हारे लिखा है राजपाट, गद्दी। हां संघर्ष तो करना ही होगा"

संघर्ष, संघर्ष, मामाजी, संघर्ष करते-करते तो मैं थक गया हूं।"

"तो फिर घबराने की क्या बात है ? अभी तो तुम नौ-जवान हो। कोई चौबीस वर्ष की आयु में थोड़े ही निराश हो जाते हैं। याद नहीं पंडित सुखराम उस दिन क्या कह रहे थे ? तुम्हारी सिंह राशि है, तुम सिंह की तरह, "मैं पंडित सुखराम की ढकोसलेबाज़ी से बाज़ आया। वह चिकनी चुपड़ी बातें न करे तो उनकी दुकान कैसे चले ?" विद्याधर बोला।

"खैर, हमें पंडित सुखराम की दुकान तो चलानी नहीं। हमें तो तुम्हारी गाड़ी चलानी है। अभी एक चान्स और बाकी है न ? उद्योगिनम् पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी। लो तुम्हारे लिए चाय मंगाते हैं।"

वेद प्रकाश ने चोंगा उठाया और अपने पी० ए० को दो चाय का आर्डर दिया।

जब तक चाय आती वेदप्रकाश ने कहना शुरू किया, "विद्याधर, देखो, दुनियां में जो कोई भी आया है उसे संघर्ष तो करना ही पड़ता है। केवल मां के पेट में ही बिना संघर्ष के पालन-पोषण होता है। इसके बाद तो हाथ-पैर हिलाने ही पड़ते हैं। और जितना-जितना कोई संघर्ष करते हैं, उसी के अनुसार फल भी मिलता है। कई बार फल नहीं भी मिलता, उस समय वीर पुरुष असफलता के कारणों का विश्लेषण करते हैं, और उन्हें दूर करने का यत्न करते हैं। यहीं तो आदमी-आदमी की पहचान होती है। तुम्हें तो अभी घबराने की कोई जरूरत नहीं। हम सब तुम्हारी मदद को उपस्थित हैं। सुनो, मुझे आज ही डी० ए० वी० कालेज, फगवाड़ा के चेयरमैन का फोन आया था। उसके यहां इस वर्ष फिलासफी के लैक्चरर की जगह निकली है। यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हारा नाम प्रस्तावित कर दूं। तुम पढ़ाते भी रहना और अगले साल के कम्पटीशन की तैयारी भी करते रहना। काम में तो रहने से तुम्हारा नैराश्य दूर हो जायेगा।"

विद्याधर को तसल्ली हुई और उसने अपनी स्वीकृति दे दी। उसने सोचा कि चलो, कहीं तो ठिकाना बनेगा। वरना आज-कल के कम्पटीशन के युग में तो कहीं भी पैर बढ़ाना मुश्किल है। विद्याधर ने अकेडिमिक कैरियर में सदा ही वजीफे प्राप्त किये थे। एम० ए० में आकर वह राजनैतिक ऐक्टिविटी में दिलचस्पी लेने लग पड़ा इसलिए उसकी गाड़ी ज़रा उलट गई थी। फिर भी उसकी हाई सैकंड क्लास आई थी। और उसने यूनिवर्सिटी में फर्स्ट पोज़ीशन केवल आठ अंकों से मिस की थी। चुनांचि जब उसकी अर्जी डी० ए० वी० कालेज फगवाड़ा की सिलेक्शन कमेटी के सामने प्रस्तुत हुई, वह तुरन्त चुन लिया गया। उसका रिकार्ड बाकी सब आवेदकों से अच्छा था।

वह होनहार था, अच्छा बोलने वाला था। अच्छे व्यक्तित्व का मालिक था। शीघ्र ही उसने अपने साथी अध्यापकों पर अपने प्रिंसिपल पर और विद्यार्थियों पर अपनी काबिलियत की छाप बिछा दी।

अगले साल उसने फिर कम्पटीशन की परीक्षा दी और द्वितीय पोज़ीशन पाकर सफल हुआ। डी० ए० वी० कालेज से उसने इस्तीफा दे दिया। समय पाकर वह सरकारी सीढ़ी पर चढ़ता ही गया, और आख़िर चीफ़ सेक्रेटरी के पद से रिटायर हुआ।

— 0 —

शिक्षा गुरु भगवान् दयानन्द

(सम्पादक—महात्मा मुंशी राम जिज्ञासु)

अवतरणिका

"वही देश सौभाग्यवान् होता है जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्तधर्म का प्रचार होता है"।

(स. प्र. 76)

पिछली शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष की राजनैतिक दशा बहुत शोचनीय थी। अशान्त राजनीतिक दशा के कारण भारतवासियों की मानसिक आर्थिक सामाजिक दशा और वैयक्तिक जीवन बहुत गिर गये थे। हमारे देश के लोग मूर्खता के कारण अन्धविश्वासी हो गये थे। ऐसा समय था जबकि ऋषि दयानन्द ने जन्म लिया। ऋषि दयानन्द के सामने बड़ा भारी काम था, यह काम अनायास ही में नहीं हो सकता था। ऋषि दयानन्द ने इस बड़े काम को पूरा करने के लिए पहले तैयारी की, अपने को योग्य बनाया, और पुनः दृढ़ संकल्प कर कार्यक्षेत्र में जा उतरा।

भारत की इस शोचनीय, गिरी हुई दशा को सुधारने का एक मात्र उपाय जो ऋषि दयानन्द को सूझा, वह शिक्षा थी। ऋषि दयानन्द से आधीशताब्दी पहिले राजाराममोहनराय को भी मातृभूमि की दशा पर तरस आया था, और देशवासियों की इस गिरी हुई दशा से उठाने का उन्होंने भी भरसक यत्न किया। राजा साहिब ने भी शिक्षा को ही सुधार का मुख्य साधन समझा। लोगों को शिक्षित किये बिना देश का अज्ञान दूर न हो सकता था। पर राजा साहिब अपने शुभ प्रयत्न में सफल मनोरथ न हो सके, आज शताब्दी बीत जाने पर भी उनका नाम और कान इने गिने शिक्षितों तक ही परिमित है सर्वसाधारण उनको जानते तक नहीं। इसका कारण है। राजा साहिब ने जिस रीति का, जिस शिक्षा नीति का, अवलम्बन किया वह ठीक न थी; वह विदेशी थी, विदेशी भाषा साहित्य और आचार को उस में बड़ा स्थान दिया गया था। अतएव अंग्रेज़ी पढ़े लिखे ही उससे लाभ उठा सके। सर्वसाधारण को उससे कोई फायदा न हुआ। पर इसके विपरीत ऋषि दयानन्द की शिक्षानीति देशी ढंग की थी। उसमें भारतीय सभ्यता, आचार, भाषा आदि को विशेष स्थान दिया गया था। यही

कारण है कि आज स्वामी दयानन्द का नाम शिक्षित और अशिक्षित दोनों में समान रूप से प्रसिद्ध है। ऋषि दयानन्द की सफलता का एक कारण यह भी था।

यह ठीक है कि ऋषि दयानन्द ने अंग्रेज़ी ढंग की शिक्षा नहीं पाई थी, न ही वे पाश्चात्य विद्वानों के विचारों से पूर्ण रूप से परिचित थे, पर इससे यह न समझना चाहिये कि उनके शिक्षा सिद्धान्त पाश्चात्य वैज्ञानिकों के शिक्षा सिद्धान्तों से किसी दरजे घटिया हैं। कई अंग्रेज़ी रंग में रंगे हुए विद्वान् कह दिया करते हैं कि स्वामी दयानन्द भारतवासियों को पुनः पण्डिताऊ ढंग की शिक्षा देकर कई शताब्दी पीछे फेंकना चाहता चाहता है। उन सज्जनों की जानकारी के लिए हम ऋषि की शिक्षापद्धति की आलोचना कर, यह दिखाने का यत्न करेंगे कि ऋषि की शिक्षाप्रणाली वैज्ञानिक ढंग की है, खूब सोच विचार कर उसकी रचना की गई है, और किस प्रकार वह पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रज्ञों Educationists के शिक्षा सिद्धान्तों से समानता रखती है।

शिक्षा के ३ लक्ष्य हैं, बालक (जिसको शिक्षा देनी है, शिक्षक और शिक्षा) इन तीनों के विषय में क्रमशः विचार करते हैं।

१. अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि 'The child is father of the man' अर्थात् बालक मनुष्य का पिता है। भाव यह कि आज जो बालक हैं कल उन्होंने बड़े होकर पिता बनना है देश के समाज को उन्होंने ही बनाना है, देश और समाज का उठाना और गिराना उन के हाथ में है। बड़े हो जाने पर मनुष्य को सुधारा नहीं जा सकता, जिस प्रकार का अभ्यासादि पड़ गया, जैसे बन गये, वैसे ही रहते हैं। पर बालकों को यथेष्ट रीति पर ढाल सकते हैं।

अतएव बालक के वैयक्तिक जीवन और भविष्यत् तथा समाज के भविष्यत् का आधार बाल्यावस्था में उनकी रक्षा और शिक्षा पर है। इसी कारण से बाल शिक्षा का विषय बड़े महत्व का है, पाश्चात्य देशों में इस बात पर खूब ध्यान दिया जाता है।

ऋषि दयानन्द बालशिक्षा और रक्षा के महत्व को खूब समझते हैं।

ऋषि दयानन्द की सम्मति में बालकों को शिक्षा का आरम्भ तब से होता है जबकि अभी बालक गर्भ में भी नहीं आता। अच्छी सन्तान पैदा करने के लिए माता-पिता का अच्छा होना आवश्यक है। माता-पिता का सन्तान पर पूरा 2 प्रभाव होता है "आत्मा वैजयते पुत्रः"। माता-पिता की शारीरिक मानसिक, आत्मिक दशा का सन्तान पर पूरा 2 प्रभाव होता है। अतएव ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय समुल्लास में तथा अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर लिखते हैं कि माता-पिता को

सन्तानोत्पत्ति के कार्य की पवित्रता और उत्तरदातृत्व को खूब समझते हुए भोजन छादनादि को नियमित रखना चाहिये, तथा मानसिक उद्वेगों को रोकना चाहिये, सदा प्रसन्न चित्त रहना चाहिये, तभी उत्तम सन्तान पैदा होगी। ऋषि दयानन्द ने इन बातों को लक्ष्य में रख कर कई संस्कारों का विधान किया है, जो कि बालक के जन्म के आगे पीछे समय 2 पर किये जाते हैं, जिनका उद्देश्य माता-पिता की मानसिक शारीरिक दशा के सुधार और शुद्धि द्वारा या सीधे तौर पर बालक पर उत्तम प्रभाव डालना है।

ऋषि दयानन्द सन्तानोत्पत्ति के काम को बड़ा पवित्र और उत्तरदातृत्वपूर्ण समझते हैं। अतएव इस काल के लिये पहिले माता-पिता को योग्य बनने का आदेश किया गया है, अयोग्य स्थिर रोगी स्पृश्यव्याधि वालों को सन्तानोत्पत्ति का कोई अधिकार नहीं।

यह एक ऐसा आवश्यक सत्य है कि जिसका अभी पाश्चात्य देशों ने महत्त्व नहीं समझा, यद्यपि बड़े-बड़े डाक्टर इस सत्य को सिर पटक कर समझा रहे हैं।

२. पहिली शिक्षिका माता है

अगस्त मास के (Modern review) में देश मान्य लाजपतराय जी ने संयुक्त देश अमेरिका की शिक्षा प्रणाली की अनेक विशेषताएं बताते हुए लिखा है कि अमेरिका की शिक्षा प्रणाली में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहां प्रारम्भिक पाठशालाओं में तथा ग्रामर स्कूलों में बालकों को शिक्षा देने का काम बहुत कुछ स्त्रियों के हाथ में है। विद्यालय विभाग में पढ़ाने वाले कुल 5,64,460 शिक्षकों में से 4,51,118 शिक्षिका स्त्रियें हैं। अर्थात् कुल शिक्षिकों का 4/5 भाग से भी अधिक स्त्रियें हैं।

इसमें भी कारण है कि बचपन में बालक की शरीर रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये, बालकों की शरीर रक्षा, उन माताओं से जिन्होंने कि उनको पैदा किया है, अधिक कौन कर सकता है? एक और भी बात है, बालक के हृदय में स्वाभाविक प्रेम होता है, जो उससे प्रेम करता है उसके आधीन अपने को कर देता है, उस पर पूरा विश्वास करता है, उसका कहना मानता है। माता बालक को दण्ड के भय से नहीं अपितु प्रेम से अपनी ओर आकृष्ट करती है उसे उत्तम 2 शिक्षा देकर सुशील बना सकती है। इस प्रकार माताओं की देखरेख में बालकों को शिक्षा देने से उनकी शारीरिक दशा अनायास ही सुधरेगी और वे सुशील बनेंगे।

मातृ शिक्षा के विषय में स० प्र० द्वितीय समुल्लास के आरम्भ में "मातृमान्

पितृमान् आचार्यवान पुरुषो वेदा" इस वाक्य को उद्धत कर ऋषि दयानन्द लिखते हैं "जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता। इसलिए मातृमान् अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्"। धन्य वह माता है जो गर्भाधान से लेकर जब तक विद्या पूरी न हो सुशीलता का उपदेश करें"।

३. बालक पर समाज का स्वत्व होना चाहिये

देश के सभी बालक सारे समाज के पुत्र हैं यदि बालक के माता-पिता उसकी रक्षा शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकते, या नहीं करते तो यह समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे बालकों की शिक्षा रक्षा आदि का प्रबन्ध करें।

यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है"। अर्थात् मनुष्य स्वभाव से ही अपने जैसे लोगों के समूह में रहना पसन्द करता है। मनुष्य की सब प्रसन्नताओं और उन्नतियों का केन्द्र समाज है। बिना समाज के एक व्यक्ति का रहना दूभर हो जाये, उसके लिए मनुष्य जीवन दुःखदायी बन जाये।

जब मनुष्य की उन्नति और सुख का दारोमदार समाज है तो आवश्यक है समाज को सुखदायी बनाया जाये। चूंकि समाज व्यक्तियों से बनता है अतः व्यक्तियों के उन्नत ओर सुखी होने से समाज उन्नत होगा, सुखी बनेगा।

शरीर के एक अंग के बिगड़ने से दूसरे अंग भी बिगड़ते हैं सारा शरीर ही दूःख उठता है इसी प्रकार यदि समाज में कोई व्यक्ति अनपढ़ रह जाये तो उसका दुःख समाज को उठाना पड़ेगा। कई ग़रीब माता-पिता अपने नन्हें-नन्हें बच्चों से भी मज़दूरी करवाते हैं, और करवाते थे, जो समय कि बालक की शिक्षा शारीरिक मानसिक उन्नति का है वह समय यूं कि खराब हो जाता है, जिसका दुःखदायी परिणाम सारी जाति को झेलना पड़ता है।

अतएव उच्च जातियां अपने प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान रखती हैं और विशेषत: बालकों का। चूंकि जो बिगड़ चुके सो तो बिगड़ चुके, पर भावी संतान का जिनकी कि अभी सुधरने की आशा है, जिनका बनना बहुत कुछ अपने हाथ में है उसका पूरा ध्यान रखा जाता है। आजकल पाश्चात्य देशों में 6वा 7 वर्ष से लेकर 13 वा 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा बाधित है। तथा मुफ्त है।

यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बाधित शिक्षा का मुफ्त होना ज़रूरी है चूंकि निर्धन लोग शिक्षा का खर्च नहीं उठा सकते।

व्यक्ति, विशेषतया बालक और समाज के संबन्ध को ध्यान में रखते हुए, विद्वान् लोगों ने यह नियम बनाया है कि उन वैयक्तिक कार्यों में, जिनका कि प्रभाव प्रधानतया समाज पर पड़ता है, प्रत्येक व्यक्ति को समाज के हित ध्यान रखना चाहिये, अपनी स्वतन्त्रता को समाज के हाथ में कर देना चाहिये। इसी में समाज का और व्यक्ति का कल्याण है। देश का प्रबन्ध इसी प्रकार चलता है। (देखो आर्यसमाज) का दसवां नियम)।

उपरोक्त नियम को ध्यान में रखकर समाज की उन्नति के लिये, देश के कल्याण के लिये, शिक्षा विषय में वैयक्तिक स्वतन्त्रता छीन ली जाती है और देश के सब बालकों को बाधित रूप से शिक्षा दी जाती है।

ऋषि दयानन्द बालक को समाज की सम्पत्ति समझते हैं, और अतएव देश के कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करना राज्य का कर्तव्य कहा है। स० प्र० तृतीय समुल्लास पृ० ३२ पर "कन्यानां सम्प्रदानंच कुमाराणांच रक्षणम्"। इस मनुवाक्य की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि "इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें वा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे जो न भेजे वह दण्डनीय हो"।

४. गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

ऋषि दयानन्द के शिक्षणालय का नाम गुरुकुल है और शिक्षाप्रणाली को गुरुकुल शिक्षा प्रणाली कहना चाहिये। फ्रैडरिक विलहैम अडास्ट फ्रोबेल के बालोद्यान या Kinder garten की तरह "गुरुकुल" नाम भी बड़ा सार्थक है। इस कुल में कम से कम २५ वर्ष तक निरन्तर विद्यार्थी को अध्यापक की देख-रेख में रहना होता है और उसकी आज्ञानुसार काम करना होता है। इस शिक्षा प्रणाली में निम्न नियम काम करते हैं।

(क) यह हर कोई जानता है कि सब बालकों को एक सी रुचि और प्रवृत्ति नहीं होती। किसी का कथा कहानी में मन लगता है और किसी का खेल कूद में, एक की स्पर्शेन्द्रिय तेज होती है तो दूसरे की आंख वा श्रवणेन्द्रिय। अस्तु अध्यापक वा शिक्षक का काम यह है कि वह बालक को प्रवृत्ति के अनुसार उसको शिक्षा दे। बालक की रुचि के अनुसार शिक्षा देने से वह शीघ्र ही और चाव से बात को समझेगा।

अल्पकाल और अल्पायास में वह बहुत कुछ जान जायेगा। इसके विपरीत बालक की रुचि और प्रवृत्ति को अवज्ञा करके मनमानी शिक्षा देने में समय और श्रम अधिक लगेगा और बालक को मानसिक शक्तियों का ह्रास होगा। अतएव व्यक्ति और समाज का कल्याण इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रुचि के अनुसार शिक्षा दी जाये।

यह कोई सहज काम नहीं, इसके लिये बड़े चतुर विद्वान् अनुभवी शिक्षक की आवश्यकता है। अतएव ऋषि दयानन्द ने योग्य अध्यापक के चुनाव पर पूरा बल दिया है। स० प्र० पृ० २९ पर ऋषिदयानन्द लिखते हैं "......९वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य कुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान पुरुष और विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें।" पुनः स० प्र० २२ पर लिखते हैं—"जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें" "किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं"।

(ख) अस्तु योग्य अध्यापक को चुन कर बालक को सर्वथा उसके आधीन कर देना चाहिये। बालक को सदा उसके निकट रहना चाहिये, जिससे कि गुरु बालक की प्रत्येक प्रवृत्ति को पहचान उसको ठीक रास्ते पर चला सके। इसी प्रकार १६ वर्ष की आयु के ऊपर जब बालक युवा अवस्था में प्रवेश करता है उस वक्त भी उसको योग्य पथदर्शक की जरूरत होती है। १६ और २४ वर्ष की आयु के बीच का सयय बड़ा भयानक होता है। अतएव ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मचर्य पर वीर्य रक्षा पर बड़ा जोर दिया है। ऋषि का अपना जीवन ही इस बात का प्रबल साक्षी है। ऋषिदयानन्द लिखते हैं कि माता-पिता को अपनी सन्तान को उपदेश देना चाहिये कि "जो तुम सुशिक्षा और विद्या के ग्रहणवीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकता"। यही ऋषि दयानन्द की शिक्षा प्रणाली का आधार है और अभी तक इस सत्य सिद्धान्त को पाश्चात्य देशों ने नहीं पाया।

(ग) अमेरिका की शिक्षा प्रणाली की विशेषता बताते हुए ला० लाजपतराय जी मोडर्नरिव्यू में लिखते हैं कि वहां धनी और दरिद्र सबके बालक एक साथ शिक्षा पाते हैं। पर ऋषिदयानन्द अपनी शिक्षा प्रणाली में और भी आगे बढ़ गये हैं और लिखते हैं कि "सब को तुल्य वस्त्र, खान पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राज कुमार हों—चाहे दरिद्र की सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये" (स० प्र० पृ० ३३)।

(घ) ऋषिदयानन्द शिक्षा विषय में जाति, लिंग आदि का ध्यान छोड़ कर सब के लिए शिक्षा की आवश्यकता समझते हैं।

अतएव ऋषि दयानन्द ने अथर्ववेद के "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" इस वाक्य की व्याख्या करते हुए स्त्रीशिक्षा पर पूरा बल दिया है "भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी हो और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे और सुख कहां"? इसी प्रकार यजुर्वेद के "यथेमां वाचं कल्याणीम्" मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषिदयानन्द ने अन्त्यज और नीच जाती वाले सबके लिए शिक्षा आवश्यक बताई है।

(ङ) ऋषि दयानन्द स्वतन्त्र विचारक थे, वे बालक को लकीर का फकीर, प्रत्येक बात पर "जी हजूर" करने वाला नहीं बनाना चाहते थे वे बालक को स्वतन्त्र विचारक बनाना चाहते थे, अतएव वे लिखते हैं कि माता-पिता का कर्तव्य है कि वह सन्तान को उपदेश करें कि "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"।

५. शिक्षा कैसी होनी चाहिये ?

यह तो हम पहले लिख चुके हैं कि ऋशि दयानन्द भारतवासियों के लिये भारतीय ढंग की शिक्षा लाभकारी समझते थे। पर साथ ही वह वर्तमान संस्कृत शिक्षा प्रणाली का विरोध भी करते थे चूंकि इसमें उपयोगी विषय कम है। नवीन ग्रन्थों में बाल की खाल उतारी गई है। नवीन ग्रन्थों में उद्देश्य के प्रतिपादन पर बल नहीं दिया गया प्रत्युत साधन पर वाद विवाद करने में ही सारा समय लगाया गया है। व्याकरण का उद्देश्य शब्दों का ठीक ठीक प्रयोग करना सिखाया है, व्याकरण साधन है उद्देश्य नहीं, पर हमारे पण्डित लोग बीस 2 तीस 2 वर्ष केवल व्याकरण पढ़ने में ही लगा देते हैं। अतएव ऋषि दयानन्द ने नवीन ग्रन्थों का विरोध कर प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ाने का अनुरोध किया है। ऋषि दयानन्द शिक्षा का उद्देश्य बालक को पूर्ण बनाना अर्थात् उसकी शारीरिक मानसिक आत्मिक उन्नति करना समझते हैं, ऐसे व्यक्तियों से ही समाज पूर्ण बनता है, ऐसे व्यक्ति ही अपना और समाज का उपकार कर सकते हैं।

आज कल संसार में शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है। संसार को सभ्य जातियों में इस समय घोरस्पर्धा है, प्रत्येक देश इस बात की ताक में है कि कब दूसरा कमजोर हो और मैं उसे धर दबाऊं। इस जीवन संग्राम में कुचले जाने से बचने के लिये, संग्राम में विजय पाने के लिये, शस्त्रास्त्रों की उत्तमता और अधिकता के साथ २ देशवासियों का शिक्षित होना भी आवश्यक समझा जा रहा है। सानफ्रान्सिस्को की प्रदर्शनी के मुख्य द्वार पर निम्न वाक्य लिखे हुऐ हैं।

"The State that fails to educate, dooms its children to industrial subjugation to these states that do educate. More than once have nations lost their land for lack of Education."

अर्थात् जो देश अपने निवासियों को शिक्षित करने में पीछे रह जाता है वह अपने देश को अन्य देशों को व्यापारिक दासता की जंजीर में जकड़ता है। शिक्षा के अभाव के कारण प्रायः जातियों से उनके देश छिन चुके हैं।

आजकल संसार में विजय पाने का एक नया शास्त्र निकल आया है वह व्यापार है। अल्प खर्च व मूल्य में वस्तुएं पैदा कर दूसरे देशों के व्यापार को मार दिया जाता है। पर इस काम के लिये लोगों का शिक्षित होना आवश्यक है। जो देश अधिक शिक्षित हैं जिसने विज्ञान में अधिक उन्नति की है वहीं सब पर व्यापारिक प्रभुत्व जमाता है। अतएव पाश्चात्य देशों में शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। पिछली शताब्दी में युरोप में पैस्टेलौज़ी, कौमिनस, फ्रेडरिक, विलहेम, अडास्ट फ्रोबेल प्रभृति शिक्षाशास्त्रज्ञ तथा बाल शिक्षकों ने जन्म लेकर वहां की शिक्षा प्रणालियों को बहुत उन्नत किया है। उन्होंने शिक्षा को विज्ञान (Science Educationists) का रूप दिया है, जिसे कि अल्प काल और श्रम में शिक्षा दी जाती है। पाश्चात्य देशवासी शिक्षा के महत्व को समझते हैं। वे गुणी हैं अतएव उन्होंने उपरोक्त व्यक्तियों का खूब आदर किया है। वे उन्हें देवता समझते हैं। पर शोक है कि हमने ऋषि दयानन्द का उसके महान् उपकारों के सामने कुछ भी आदर नहीं किया।

नवीन भारत को बनाने में ऋषि दयानन्द का बड़ा हाथ है। आजकल के सब प्रचलित आन्दोलनों का आरम्भ ऋषि दयानन्द से होता है। ऋषि का शिक्षा विषयक आन्दोलन बड़े महत्त्व का और उपयोगी है। एक विद्वान् का कथन कि है "शिक्षा प्रचार ही निकट वर्ती भविष्यत् का नया सन्यास होगा। शिक्षक ही नये सन्यासी होंगे।" ऋषि दयानन्द ने सब प्रकार से अपना कर्तव्य निबाहा है, उसका अनुकरण करना हमारा कर्तव्य है।

(ब्र० देवराग १२ श्रेणी द्वारा साहित्य परीषद् के ऋष्युत्सव में पढ़ा गया।)

(सद्धर्मप्रचारक, भाग २७, कार्तिक तथा मार्गशीर्ष ५ संवत् १९७२ पृ० च से झ तक से साभार)

— 0 —

एक कहानी

सद्भावना की शक्ति

ले० माननीय बलभद्र कुमार जी हूजा,
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

राजा और मंत्री सैर को निकले। गांव में एक ऊंचा आलीशान मकान नज़र आया। राजा ने कहा किसका है? मंत्री बोला—सेठ जगन्नाथ का। राजा ने आज्ञा दी—चारों ओर तो ग़रीबों की झोंपड़ियां हैं। कितना अटपटा लगता है यह अमीरी का प्रदर्शन, इसे गिरा देना चाहिए।

अगले दिन मंत्री सेठ जी के पास गया; कहने लगा—महाराज ने आज्ञा दी है, आपका घर गिरा देना चाहिए।

सेठ बड़े पशोपेश में पड़ा। गुरु के पास सलाह मशवरे के लिए गया, गुरु ने पूछा, क्या राजा के प्रति तुम्हारे मन में दुर्भावना है?

सेठ ने स्वीकार किया—हां महाराज! गुरु ने कहा—तो इसे सद्भावना में बदलने का यत्न करो। राजा के प्रति अच्छे भाव रखो।

कार्य कठिन था, परन्तु सेठ ने प्रयत्न किया—कुछ दिनों बाद राजा और मंत्री फिर उधर से गुज़रे। राजा ने वही मकान देखा—कहने लगा, कितना सुन्दर मकान है। मेरी प्रजा की समृद्धि का द्योतक है। कितना अच्छा हो कि अन्य लोगों के मकान भी ऐसे ही हों—किसका है?

मंत्री बोला—महाराज, सेठ जगन्नाथ का।

राजा ने कहा—उसे प्रशस्ति पत्र प्रदान करो और राजमहल में उसे यदा-कदा आमंत्रित करते रहो।

— 0 —

वैदिक रश्मियाँ

सम्पादक : श्री रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

द्वितीय रश्मि

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् ।।—सामवेद पू. मं. ४

संक्षिप्त अर्थ—(अग्निःवृत्राणि[1] जङ्घनत्) अग्नि वृत्रों को मारता है।

अर्थ—प्रकाशस्वरूप तेजोमय प्रभु आत्मा पर आवरण डालने वाले सर्वविध वृत्रों-पापों वा अज्ञानों को मार देता है, समाप्त कर देता है।

व्याख्या—प्रथम रश्मि में उस अग्निस्वरूप—ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, तेजःस्वरूप, ओजःस्वरूप प्रभु से यह प्रार्थना की गई है कि वह आएं, शीघ्र आएं, अब वह देर बिल्कुल न लगाएं क्योंकि अब उसके महत्त्व को हम हृदय से अनुभव करते हैं। वह इस रूप में कि हमें संसार में वृक्षों ने घेरा हुआ है, पापों ने हमारा घेराव कर रखा है, अज्ञानों ने अविद्यान्धकारों ने हमें ऐसा अन्धा सा बना रखा है, तमोगुण ने हमें ऐसा अभिभूत सा कर रखा है, ऐसा आच्छादित सा कर रखा है कि हम चाहते हुए भी अब आगे बढ़ नहीं सकते। क्योंकि अब हमें राह दीखती ही नहीं, अब हमें मार्ग सूझता ही नहीं, अब हमें अपना पथ स्पष्ट प्रतीत ही नहीं होता। अतः अब हम प्रथम तो कुछ आगे ही नहीं बढ़ पाते, और अगर कुछ बढ़ने का साहस करते भी हैं तो फिर हम कहीं अटकते हैं, कहीं भटकते हैं, कहीं लटकते हैं, कहीं गिरते हैं तो कहीं के कहीं जा पड़ते हैं। फिर भी साहस कर के जो हम पुनः उठते हैं और आगे बढ़ते हैं तो हमारे ही ये पाप हमें आगे नहीं बढ़ने देते, हमारे ही ये वृत्र-हमारी ही ये वासनाएं हमें आगे नहीं बढ़ने देतीं। ये हमें कहीं अपने सुन्दर-सुन्दर रंगों में, कहीं अपनी नानाविध गन्धों में, कहीं अपनी सुरीली-सुरीली ध्वनिरूप झाड़-झकाड़ों में ऐसा उलझा लेती हैं कि फिर हम एक पग भी आगे नहीं धर पाते, एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाते। यदि साहस करके हम कुछ बढ़ते हैं, तो छिल-छिल जाते हैं। आत्मा से न चाहते हुए भी हम इन से पिट-पिट कर कभी-कभी तो मृतप्राय हो जाते हैं। अगर

---

१. जङ्घनद्-हन् हिंसागत्योः (हन्तेर्यङ्लुङन्ता ल्लिडर्थे लिट्) पुनः पुनरतिशयेन भृशं वा हन्तीति जङ्घनीति तस्य लेटि रूपम् "जंघनत्" (इतश्च लोपः) भृशं हन्तो त्यर्थः।

कभी हम इन से हार मान कर इन के आधीन हो जाते हैं, तो तब तो समझो कि हमारा कचूमर ही निकल जाता है। फिर न तो हम में कुछ आत्मबल रह पाता है, न मनोबल और न ही शारीरिक बल ही रह पाता है।

अपनी इस दयनीय स्थिति को देख कर हम ने अपनी सहायता के लिए न जाने किन-किन का आश्रय लिया, न जाने किन-किन की शरण में गए। कभी हम सत्संगों में गये, कभी हम ने स्वाध्याय किया, कभी हम देवों विद्वानों तपस्वियों योगियों सन्यासियों की शरण में गए, इस में कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने हमें ज्ञान भी दिया, बड़े-बड़े उपाय भी बताए, पग-पग पर वे हमें स्नेह सहानुभूति और सहयोग भी देते रहे, पर फिर भी न जाने कैसे उन सहयोगी सहायक शास्त्रों एवं शास्त्रकारों विद्वानों ज्ञानियों योगियों तपस्वियों के संरक्षण में रहते हुए भी वे वृत्र आकर हम पर आक्रमण कर ही जाते थे—हम पर हमला बोल ही जाते थे और एक बार हमें तहस-नहस कर ही जाते थे—हमें तबाह और बर्बाद कर ही जाते थे।

यह सब देख कर हम सर्वथा एकांत और शान्त स्थान पर भी गए, वहां हम गिरि-गुहाओं में गिरि-कन्धराओं में भी घुसे, कुटि-कुटीरों में भी घुसे और द्वारों को भी सब प्रकार से हम ने बन्द कर लिया। यहां तक कि संसार की सर्वविध सुख-सुविधाओं को, सकलविध सुख-सम्पत्तियों को भी हम सब प्रकार से झटक और पटक कर आ गए। यहां तक कि संसार से एक प्रकार से हम ने अपने आप को सर्वथा ओझल सा भी कर लिया और बैठ गए हम गिरि-गुहा में वा किसी कुटिया में, यह सोच कर कि अब हमारे पास कौन आयेगा, कैसे आयेगा और क्यों कर आयेगा, पर प्रभु देव ! आश्चर्य तो तब हुआ कि जब हम घर-बार से-धन-वैभव से-विषय-विकारों से सैंकड़ों-सहस्त्रों मील दूर आ बैठे हैं और वह भी गिरि-गुहाओं में बन्द हो कर बैठे हैं तो भी इन वृत्रों ने-इन पापों ने-इन विषय-विकारों ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। सचमुच तब तो हम अवाक् रह गए जबकि हमने इन्हें यहीं पर भी अपने सम्मुख विद्यमान पाया-अपने को हैरान और परेशान करते हुए पाया-अपने को तप्त-सन्तप्त करते हुए पाया। उस समय हमारी इस दयनीय दशा को देख कर किसी अनुभवी सिद्ध पुरुष ने कहा—"हे भोले साधक ! ये सब आश्रय निर्बल हैं, अतः लेना है तो एक ही प्रभु का सबल सहारा लो, एक ही उस अग्नि स्वरूप, प्रकाशरूप, तेजोरूप, ओजोरूप, प्रभु का आश्रय लो और फिर उसे ही अपने हृदय की तड़प से पुकारो, अपने हृदय के आर्तस्वर से पुकारो। उस दिन समझो उस का तुम्हें सहारा मिल गया-जिस दिन तुम्हें आश्रय मिल गया-जिस दिन उसका तुम्हें आलम्बन मिल गया। फिर वह इतना श्रेष्ठ और ज्येष्ठ सहारा होगा कि जितना कोई दूसरा सहारा हो ही नहीं सकता। वह इतना ज्योतिर्मय है, प्रकाशमय है, तेजोमय है, ओजोमय है कि उतना कोई न आज तक

हुआ, न है, और न होगा......।" सचमुच जिस दिन हम उसका आश्रय ले लेंगे और वह हमारे साथ खड़ा हो जायेगा, जिस दिन उस का प्रकाश हमारे हृदय में हो जायेगा, जिस दिन उसका तेज और ओज हम को तेजोमय और ओजोमय बना देगा, उस दिन फिर ये वृत्र-फिर ये विषय-विकार हमारी राह को रोकने वाले-हमारी राह में रोड़े अटकाने वाले-हमें अटकाने-भटकाने और बीच में ही लटकाने वाले, नहीं-नहीं हमें गिरा-गिरा कर बुरी तरह मारने वाले-हमारे रंग-रूप तेज और ओज को समाप्त करने और हमारे शरीर को अस्थिपंजर मात्र बना देने वाले ये काम क्रोध आदि-आदि विषय-विकार तब "जंगल में जैसे अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर ये सिंह चीते आदि भयंकर हिंसक प्राणी प्रथम तो दूर-दूर रहते हैं, और यदि दुःसाहस कर के आगे भी बढ़ते हैं तो उस अग्नि में भस्मसात् हो जाते हैं, ऐसे ही उस तेजोमय, ओजोमय परम प्रभु के हृदय में देदीप्यमान हो जाने पर प्रथम तो वे समीप आते ही नहीं और अगर आते हैं तो उसमें वे भस्मसात् हो जाते हैं।

यह अग्निस्वरूप तेजोरूप प्रभु तो ऐसा है जो उन वृत्रों को ऐसी मार मारता है कि पुनः कभी के सिर नहीं उठा पाते, पुनः वे उपासक पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं कर पाते। वह प्रभु वृत्रों को पुनः माने वाले हैं, खूब मारने वाले हैं और ऐसे मारने वाले हैं कि फिर उनमें सिर उठान का भी साहस और शक्ति नहीं रहती। उसकी इस अद्भुत सामर्थ्य को देख कर ही तो हम उसे हृदय से पुकारते हैं—"कि हे प्रभो ! तू वृत्रहन्ता है-तू वृत्र विनाशक है। और फिर तू हमारा सर्वोत्तम सहारा है। सबसे बड़ा साहारा है, तेरे बल पर हमें पूर्ण भरोसा है। अतः हम तुम्हें पुकारते हैं कि—प्रभो तू आ, और ऐसा आ, कि फिर सदा हमारे हृदय में विराजमान हुआ-हुआ हमारा सच्चा संरक्षक ही बन जा ताकि तेरी पावन छत्र-छाया में अबाध गति से निरन्तर आगे ही बढ़ते रहें।

तृतीय रश्मि

अग्ने त्वां कामये गिरा। —सामवेद, पू० मं० ८

संक्षिप्त अन्वदार्थः—(अग्ने ! (अहं) गिरा त्वां (एव) कामये (हे प्रभो ! (मैं अब) वाणी से तुझे (ही) चाहता हूं।

अन्वयार्थ :—अग्ने ! गिरा त्वां कामये) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! मैं उपासक अब अपनी वाणी से—अपनी स्तुतिमयी वाणी से केवल मात्र तुझे ही चाहता हूं।

व्याख्या—अग्नि के समान प्रकाशमान् भगवन् ! मैंने अपने जीवन को प्रकाशमान्

करने के लिये, ज्ञान ज्योति से ज्योतिर्मय करने के लिये, तेज से तेजस्वी बनाने के लिये, ओज से ओजस्वी बनाने के लिये, शुद्ध-पवित्र बनाने के लिये, आनन्दमय बनाने के लिये एक से एक बढ़ कर ज्ञानी विद्वान् तपस्वी योगी धर्मात्मा महात्मा सन्यासी को चाहा, उस का वरण किया, उस का शिष्यत्व अंगीकार किया, उस के चरणों पर पुनः पुनः बड़ी श्रद्धा-भक्ति से अपना यह मस्तिष्क रखा-अपना यह सिर धरा, अर्थात् पुनः पुनः उस को बड़ी नम्रता से झुक-झुक कर प्रणाम किया, यह सोच कर कि किसी प्रकार मेरा यह हृदय भी प्रकाशमान हो जाए, ज्ञान ज्योति से ज्योतिर्मय हो जाए और मेरी अविद्या की गांठ खुल जाए। पर नाथ ! वर्षों यह तमाशा करते रहने पर भी मेरे इस हृदय में वह प्रकाश हुआ नहीं, मेरे इस हृदय में वह ज्ञान ज्योति जगी नहीं जिससे कि मेरे हृदय का तम-अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता और मेरे हृदय का कोना-कोना जगमगा जाता।

नाथ ! इतना ही नहीं मैंने बड़े-बड़े वीरों का आश्रय लिया, बड़े-बड़े मल्लों का—पहलवानों का सहारा लिया, उन्हें पुकारा, बड़े-बड़े तपस्वी योगी महांपुरुषों को चाहा और चाहा ही नहीं वरन् उनके द्वारों पर जा-जा कर उनके चरण पकड़े उनके सम्मुख गिड़-गिड़ाया, यह विचार कर कि किसी प्रकार मैं भी बलवान बन जाऊं, तेजोमय और ओजोमय बन कर सर्वविध भयों से मुक्त हो जाऊं, सर्वविध आपत्तियों को पैरों तले रोंध-रोध कर आगे बढ़ जाऊं। पर नाथ ! यह सब कुछ कर लेने पर भी वह सब कुछ हुआ नहीं।

हे प्रभुवर ! मैं यह नहीं कहता कि इन सब ने मुझे अपनाया नहीं, इन सब ने मुझे स्नेह-सहानुभूति एवं सहयोग नहीं दिया। यह सब कुछ इन सब ने मुझे दिया, खूब दिया, दिल खोल कर दिया, बड़े लाड़ और प्यार से दिया, और यह समझ कर दिया कि मुझ बिचारे पथिक को कहीं पथ मिल जाए-मुझ राही को कहीं राह मिल जाए, मुझे कहीं प्रकाश मिल जाए, कहीं शारीरिक बल मिल जाए, मनोबल मिल जाए, बुद्धिबल मिल जाए, आत्मबल मिल जाए, । मैं यह भी नहीं कह सकता कि मुझे यह सब मिला नहीं। मुझे यह सब कुछ मिला, और खूब मिला, तथा इतना मिला कि सम्भवतः मैं इस का पात्र भी था या नहीं-यह मैं नहीं कह सकता ! जो कुछ भी मुझे इन सब से मिला, मैं उस का भी मूल्य समझता हूं, क्योंकि आज जो कुछ मैं हूं उसी के बल पर मैं हूँ नहीं तो मुझ अकिंचित् भिक्षुक के पास था भी क्या ? अतः मैं इस सब के लिये इन सब के प्रति कृतज्ञ हूँ, रोम-रोम से कृतज्ञतावश मैं इन सब के प्रति नतमस्तक भी होता हूँ। पर हे प्रभुवर ! फिर भी मुझे वह अद्‌भुत प्रकाश, वह अनुपम ज्ञान, वह दिव्य तेज और वह उत्तम ओज नहीं मिला, वह शान्ति और आनन्द नहीं मिला, वह परम प्यारा प्रभु नहीं मिला कि जिस के परिणामस्वरूप मैं झूम जाता, मैं

विभोर हो जाता, मैं कृतकृत्य हो जाता, मैं सर्वथा कृतार्थ हो जाता। अतः हे ज्ञानप्रकाश के, तेज और ओज के, शान्ति और आनन्द के परम स्रोत प्रभुवर ! अब मैं तेरे दर पर आया हूं, अब मैं तेरे द्वार पर आया हूँ और तेरे ही द्वार पर अब मैं अलख जगाए हुए हूँ। इसलिए कि अब मैं तुझ को ही चाहता हूँ, तुझको ही पुकारता हूँ, भीतर-बाहर से तुझे चाहता हूँ, यह विचार कर के कि तुझ को पाने से मैं वह सब कुछ पा जाऊंगा। जिस के लिये कि मैं अपने घर से निकला था। नाथ ! तू मेरी यह पुकार सुन लेना और मुझे निहाल कर देना।

—वैदिक रश्मियां, पृ० १६ से २४ तक; से उद्धृत।

— 0 —

सुख और दुःख

ले० डा० विजयपाल शास्त्री, प्रवक्ता, दर्शन विभाग।

परिवर्तनशील इस विश्व में सुख और दुःख की आंखमिचौली का खेल मानव जीवन के रंगमंच पर सदा से होता आया है। परिवर्तन का यह सिलसिला इतना सत्य और शाश्वत है जितना यह विश्व और इसका निर्माता। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख यह नियम अविच्छिन्न है। सुःख और दुःख का यह मिथुन अपरिहार्य ही नहीं आवश्यक भी है। सुख के पश्चात् दुःख का आगमन न हो तो सुख की महिमा ही विनिष्ठ हो जाये। दिन के पश्चात् काली अन्धेरी रात, वसन्त के पश्चात् पतझार, शीत के पश्चात् ग्रीष्म आदि प्राकृतिक परिवर्तन इसी की ओर इंगित करता है। सुख जड़ता प्रदान करता है और दुःख कर्तव्य का स्मरण कराता है। सुख मनुष्य को उसके "स्व" से दूर कराता है, दुःख अपने और परायों की पहचान कराता है। अतः केवल सुख को ही आत्मीय बन्धु समझ कर सदैव उसकी कामना करनी चाहिये। जब दुःख का परिहार सम्भव है ही नहीं, तब क्यों न मुस्करा कर उसका स्वागत करें।

वस्तुतः देखा जाये तो दुःख भोगने के पश्चात् ही सुख भोगने में अधिक रस मिलता है। दुःख का अनुभव कर चुकने के अनन्तर जब मनुष्य सुख प्राप्त करता है, निर्धनता से समृद्धि की ओर आता है, व्याधि का परित्याग कर आरोग्यलाभ करता है, बन्धन के अनन्तर मुक्ति की सांस लेता है, तब ही वह सोचता है कि सचमुच आज मेरा भाग्योदय हुआ, आज ही पुण्यलता पलवती हुई, गुरुजनों के आशीर्वचन आज ही समृद्ध हुए। वही व्यक्ति वास्तव में सुख को सुख रूप में पहचानता है, उसकी दुर्लभता को स्वीकार करता है और उसके लेशमात्र को भी बहुत समझता है। धन की सार्थकता और दारिद्रय की अनर्थता की परख वही कर सकता है जो दाने दाने के लिए तरस चुका है, भूख का साक्षात्कार कर चुका है और संकटों की विकटता से परिचय कर चुका है। जितना गहन अन्धकार होगा, दीपक की शिखा उतनी ही कान्तिमयी होगी।

जो व्यक्ति समृद्धि में जन्मा है, विशाल परिवार से परिवृत होकर पला है, सबसे अर्चित और सेवित होकर बड़ा हुआ है, समूल्य वस्त्रों और अलंकारों से विभूषित हो चुका है। महार्घ्य शय्याओं पर सोया है, नाना रसों से स्वादु भोजन पानादि का सेवन कर चुका है, ऐसा व्यक्ति समय के परिवर्तन से जब दरिद्र होता है तो उसकी दशा बड़ी दयनीय होती है। वस्त्रालंकारहीन हो कर वह पृथ्वी पर सोता है, कठिनता से भोजन

प्राप्त करता है, जैसे तैसे लोकयात्रा का निर्वहण करता है, पुरातन सम्पदा का ध्यान कर करके असह्य वेदना का अनुभव करता है। एक प्रकार से वह शरीर से जीवित रहता हुआ भी वस्तुतः निर्जीव धौंकनी के समान श्वास लेता है। सुख और दुःख के पौर्वापर्य का बड़ा मनोहारी चित्र कविवर शूद्रक ने इस पद्य में खींचा है—

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते,
धनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखेन यो याति नरो दरिद्रतां
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥

मानव जीवन की यह कैसी विडम्बना है कि सुख और दुःख के अहर्निश गतिमान् इस चक्र को आज तक कोई रोक नहीं पाया। सरस्वती के पारदृश्वा कविकुल गुरु कालिदास को भी "कस्यात्यन्तं दुःख में कान्ततो वा" कह कर सुख दुःख के परिवर्तन की अपरिहार्यता को अंगीकार करना पड़ा। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह परिवर्तन इतनी धीमी गति से होता है कि पदचाप भी श्रवण गोचर नहीं होती। काले कुंचित केश किस समय वार्द्धक्य की श्वेत दाढ़ों में जकड़ लिये जाते हैं, खबर भी नहीं होती। कमनीय कंचन कामा का रंग कब उड़ गया? पता भी नहीं चलता। पता उस समय चलता है जब जीवन की गागर रीती हो जाती है, पंछी खेत चुग गये होते हैं। रह जाता है केवल पश्चात्ताप। पन्त के शब्दों में—

अरे वे अपलक चार नयन
आठ आंसू रोते निरुपाय।
उठे रोओं के आलिंगन,
कसक उठते कांटों से हाय॥

दुःख के दिवस बिताये नहीं बीतते। सुख के मादक क्षणों की गति बड़ी तीव्र होती है। न दिन के प्रहरों का पता चले न रात्रि के—"अविदित गत यामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।" दुःख के क्षणों में चित्त अतीत काल की गहराइयों में खो जाता है। प्रत्येक रमणीय वस्तु कांटों सी चुभती है। पुरातन अनुभूत शीतल मन्द बयार, चांदनी से स्नात रात्रियां, प्रणय परिहास की बातें, सभी कुछ शूल सम लगमा है। "प्रसाद" का भी कुछ ऐसा ही अनुभव है :—

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा॥

लोक सुख कामना करता है, दुःख से उद्विग्न होता है किन्तु मेरी दृष्टि में सुख इतना अनुपादेय नहीं है। और चाहे कोई लाभ न हो किन्तु दुःख की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है कि इसमें अपने और परायों की पहचान हो जाती है तुलसीदास कहते हैं—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत्काल परखिये चारी॥

सचमुच धैर्य, धर्म, मित्र और पत्नी की परीक्षा संकटकाल में ही होती है। आप में जितनी सहिष्णुता है, कर्तव्य के प्रति आप कितने निष्ठावान् हैं, कौन सन्मित्र है और कौन आस्तीन के सांप हैं, आपकी पत्नी कितनी आपकी हितैषिणी है, इन सब की पहचान आपत्ति काल ही कराता है। ऐसे दुःख को स्पृहणीय न कहूं तो क्या कहूँ?

यदि आप चाहते हैं कि दुःख आपके जीवन में न आये, सुख की ही छाया में आपका समय बीते तो इसका निदान सुख के क्षणों में ही खोजना होगा। प्रायः होता यह है कि सुख-संवेदन काल में मनुष्य यह भूल जाता है कि अपुण्याचरण के तरु पर दुःख रूपी फल भी कभी लगेंगे, जिन का स्वाद वपन कर्ता को चखना पड़ता है। विभूति के मद में परकीय वेदना का संवेदन नहीं होता। उस समय मानव वन्दनीयों का तिरस्कार करता है, अपूज्यों को पूजता है और सदाचार का उपहास करता है। जब ये अशुभ कर्म दुःख रूप फल देने के लिए उन्मुख होते हैं तब इनके अनौचित्य का ज्ञान होता है किन्तु उस समय जीवन का सामर्थ्य-काल बीत चुका होता है। वार्द्धक्य शरीर को अशक्त कर देता है, इन्द्रियां क्षीण हो जाती हैं। तब वह पंक निमग्न गौ के समान केवल विलाप करता है। इसलिये भर्तृहरि कहते हैं—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवर गृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भवने तु कूप खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

जब तक यह शरीर स्वस्थ है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रिय शक्ति अक्षुण्ण है, और आयु शेष है, तभी तक आत्म-कल्याण में विद्वान् को प्रयत्न करना चाहिये। घर में आग लग जाने पर कुआं खोदने से क्या लाभ?

— 0 —

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक का नाम	...	जीवन और सुख
लेखक	...	शिवानन्द-प्रिंसिपल
		देव नागरी इंटर कालेज, मेरठ
प्रकाशक	...	सर्वसेवा संघ, राजघाट वाराणसी।
पृष्ठ संख्या	...	310
मूल्य	...	दस रुपए

उपर्युक्त पुस्तक उस परम्परा में आती है जो अंग्रेजी भाषा के लेखकों में परम प्रचलित रही है। डेल कार्नेगी जैसे लेखकों की इस प्रकार की पुस्तकें संसार में सब से अधिक संख्या में बिकने वाली पुस्तकों में से हैं। हमारे देश में सुख केवल आध्यात्मिक चिन्तन में ही माना जाता रहा है। यहां तक कि सन्त-कवियों ने तो सुखकी अपेक्षा दुःख को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, यथा—

> सुख के माथे सिल परै नाम हिये ते जाय।
> बलिहारी वा दुःख को पल पल नाम रटाय॥

आधुनिक जगत में जबकि चारों ओर अशान्ति का वातावरण छाया हुआ है सुख और शान्ति की खोज की आवश्यकता का अनुभव होना स्वाभाविक है।

प्रस्तुत लेखक ने बड़े परिश्रम के साथ पुस्तक में सामग्री का संकलन किया है। उसने अपनी विचारधारा को निम्नांकित अध्यायों में रखा है।

१. मानसिक तनाव से मुक्ति
२. ध्यानदीप
३. मानव में आध्यात्मिक संप्रेरण
४. स्वान्तः सुखाय
५. गुडाकेश
६. राम की विनयशीलता

७. राम की संघर्षशीलता

८. अत्याचार का प्रतिरोध

९. धर्मयुद्ध

१०. मानव और मानवता

११. अमर ज्योति-महात्मा गांधी

१२. स्वास्थ्य प्राप्ति के सात्विक उपाय

१३. जीवन-यात्रा की परम साधना

१४. मृत्यु महोत्सव

१५. सुख की चाह और उसकी सच्ची राह

१६. अनूठा बदला

१७. व्यक्तित्व का विकास (भारतीय चिन्तन के आधार पर)

१८. सृष्टि की उत्पत्ति, मानव और ईश्वर तत्त्व ।

पुस्तक में सात्विक जीवन की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है साथ ही उच्चकोटि की सामग्री प्रस्तुत की गई है। युवकों के चरित्र-निर्माण हेतु पुस्तक परमयोगी है।

(सम्पादक)

— 0 —

राष्ट्रमंडलीय देशों के कुलपति सम्मेलन में भाग लेने के हेतु इंग्लैंड गए हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति माननीय बलभद्र कुमार जी हूजा का पत्र

माननीय श्री बलभद्र कुमार हूजा, कुलपति द्वारा डबलिन से लिखा गया पत्र दिनांक १०.८.८३

" मैं ३ अगस्त को शाम को लंदन पहुँच गया था। १४ को कैम्ब्रिज चला गया। वहां सैंटर आव साऊथ एशियन स्टडीज देखा। उसके सचिव डा० कार्टर से भेंट हुई। साऊथ एशिया और भारत पर उनका पुस्तकालय अप-टू-डेट है। इस नगर में लगभग दो दर्जन कालेज हैं। कई तो १४वीं १५वीं शताब्दी में स्थापित हुए हैं। विशेषकर ट्रिनीटी कालेज देखा। इसे अष्टम हेनरी ने १५४६ में स्थापित किया था। इसकी लाईब्रेरी भी बहुत विख्यात है। इसमें ६०,००० पुस्तकें हैं। न्यूटन, बकेन, बाबरम, थेकरे के धड़ों के बुत लगे हैं। टेनीसन, मैकाले, ड्राइडन भी यहां के विद्यार्थी रहे हैं। ठहरने को कालिज में बहुत सुन्दर प्रबन्ध था। उस कालिज के अध्यक्ष से भी मिला जो कानून पढ़ाते हैं। अगले रोज वापिस लंदन आ गया। ६ को इण्डिया हाऊस में प्रो० रामलाल पारीख से मुलाकात हुई। फिर हम भारतीय हाई कमिश्नर श्री सैयद हुसेन से मिले। उसी दिन रात को डबलिन के लिए रवाना हुए। यहां भारत के डैलीगेशन में १४ सदस्य हैं। दयाल बाग की डा० शेरी भी हैं। भारतीय डैलीगेशन का ज़ोरदार स्वागत हुआ। टी० बी० और रेडियो ने भी खूब चर्चा की। कल रात भारत के राजदूत ने बुलाया था, आज नगर के लार्ड मेयर ने।

८ को सम्मेलन का आरम्भ हुआ। ४१ देशों से ६०० प्रतिनिधि आयें हुए हैं। लार्ड मेयर ने डेलीगेटों का स्वागत किया। शिक्षा मन्त्री श्रीमति हसी ने शुभारम्भ किया। ट्रीनीडाड के फादर पैंटन ने मुख्य भाषण दिया और उन्होंने बताया कि किस प्रकार वह गरीब पिछड़े हुए वर्ग में जागरण पैदा कर रहे हैं। उन्होंने बतलाया कि युवा लोग सम्मान से जीना चाहते हैं और चाहते हैं कि उन्हें कोई अपनाये। सभी मनुष्य बराबर हैं। साथ में सभी निराले हैं। सभी चाहते हैं उनका सम्मान हो, उन्हें बराबर हिस्सा मिले। उन्हें कोई दुतकारे नहीं। दो दिन छोटे ग्रुपों में बातचीत होती रही। सभी की सम्मति रही कि विश्वविद्यालयों को लोगों के बीच में आकर प्रकाश

फैलाना चाहिए—अन्धकार, अन्धविश्वास, अज्ञान मिटाना चाहिए अन्यथा विश्व-विद्यालय के अस्तित्व का कोई सार नहीं। आज हम ट्रिनिटी कालेज डबलिन देखने गये, यह १५९२ में एलिजाबेथ प्रथम द्वारा स्थापित हुआ था। वहां के प्रोवोस्ट (वाइस चांसलर) डा. वाट्स से मिले। यहां का पुस्तकालय भी बहुत प्रसिद्ध है। इसमें २० लाख पुस्तकें हैं। इनकी बाइबिल "बुक आव कैल" कहलाती है। उसका पुराना संस्करण ८०० ई. सन् का यहां रखा है। उसे देखने हेतु दर्शनार्थियों का भीड़ लगी हुई थी। सर्वत्र, वहां क्या कैम्ब्रिज में, क्या लंदन में, क्या गुलाब की, अन्य फूलों की क्यारियां देखने आती हैं। लोग सभ्यता से क्यू में प्रतीक्षा करते हैं। ड्राइवर एक-दूसरे को सिगनल देकर आगे बढ़ते हैं। नियमानुसार रास्ता देते हैं। सफ़ाई का विशेष ध्यान रखते हैं। हां, अब सफाई का वह स्तर नहीं रहा, जो २० वर्ष पहले था।

(कुलसचिव महोदय से प्राप्त प्रतिलिपि से उद्धृत)

— 0 —

क्या सिख हिन्दू नहीं हैं ?

ले० माननीय वीरेन्द्र जी

प्रात: का भूला सायं को वापिस आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते ।

यह ख्याल मुझे उस समय आया जब मैंने शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के प्रधान सरदार गुरचरन सिंह टोहरा का वह वक्तव्य पढ़ा जिस में उन्होंने हिन्दू सिख एकता पर बल दिया है । इसमें उन्होंने कहा है कि :—

१. सिख इस बात हर गौरव अनुभव करते हैं कि गुरु साहेबान ने सिखों को हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए पैदा किया था । इसलिए हिन्दू और सिख में किसी प्रकार के टकराव का कोई सवाल पैदा नहीं होता ।

२. अकाली दल जो लड़ाई लड़ रहा है वह भारत सरकार के विरुद्ध है। अगर अकाली इस लड़ाई के माध्यम से सारे पंजाब के लिए न्याय प्राप्त कर सकें तो सब को लाभ होगा ।

३. हिन्दू और सिख एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते । किसी प्रकार का विषाक्त प्रचार इनके भाइयों जैसे सम्बन्धों में दराड़ पैदा नहीं कर सकता ।

४. सिखों को इन्दिरा कांग्रेस के झांसे में न आना चाहिए और अपनी परम्परागत सहिष्णुता एवं प्रेम से हिन्दुओं का विश्वास जीतने का प्रयास करना चाहिए ।

५. हिन्दू साधारण रूप से और सिख विशेष रूप से प्रत्येक स्थिति में एकता बनाए रखने का प्रयास करें । उन्हें चाहे कितना आवेश दिलाने का प्रयास किया जाए ।

मैंने टोहरा साहब का यह वक्तव्य पढ़ा तो मुझे जहां कुछ आश्चर्य हुआ वहां अत्यधिक प्रसन्नता भी हुई । मैं बहुत देर तक यह सोचता रहा कि क्या यह वही व्यक्ति कह रहा है जिसने २९ अक्तूबर १९७८ को लुधियाना में अ. भा. अकाली सम्मेलन में पहली बार दो कौमों का विचार पेश किया था । जिसने कहा था कि भारत में एक

नहीं कई कौमें बसती हैं और जिसने रूस के संविधान की धारा ७६ को उद्धृत करते हुए कहा था कि अगर रूस के एक राज्य को अलग होने का अधिकार मिल सकता है तो भारत में हमें यह अधिकार क्यों नहीं मिल सकता।

सरदार गुरचरण सिंह टोहरा के इस भाषण ने वह विवाद शुरू कर दिया था जिसका परिणाम आज हम देख रहे हैं। अगर अकाली यह कहें कि केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों पर पुनर्विचार होना चाहिए तो इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यह तो और भी कई पार्टियां कहती हैं। अकालियों की इस मांग का विरोध और इसी के साथ आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव का विरोध उस समय शुरू हुआ था जब श्री गुरचरण सिंह टोहरा ने कहना शुरू किया था कि भारत में कई कौमें आबाद हैं। और उन्हें उसी तरह अलग होने का अधिकार मिलना चाहिए जिस तरह रूस में वहां की विभिन्न कौमों को मिला हुआ है। टोहरा साहब ने बार-बार तीन शब्दों का प्रयोग किया है वह हैं Nation-Nationalities और Multi-National जब एक व्यक्ति इस तरह की बातें करता है और साथ ही यह भी कहता है कि हमें अपना एक ऐसा संविधान बनाने का अधिकार होना चाहिए जिसमें "खालसा का बोलबाला हो" तो इसके अर्थ क्या हैं? हिन्दूओं की ओर से अगर आनन्दपुर साहब प्रस्ताव का इतना विरोध हो रहा है तो इसका भी एक कारण यही है। केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों पर पुर्नविचार पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

प्रतीत होता है कि टोहरा साहब को अपनी भूल का अनुभव होने लगा है। अब कहते हैं कि हिन्दू और सिख एक हैं। उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता। उन्होंने सिखों से यह भी कहा है कि वह अपनी परम्परागत उदारता और सहिष्णता के अनुसार हिन्दुओं का विश्वास प्राप्त करने का प्रयास करें।

मैं टोहरा साहब के इस वक्तव्य का स्वागत करता हूं और उन्हें इसके लिए बधाई देता हूँ। इसलिए मैंने लिखा है कि प्रातः का भूला सायं तक घर आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते। अगर अब भी टोहरा साहब और उनके साथी यह समझ सकें कि हिन्दू और सिख एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते और वह उन अर्थों में कभी भी दो कौमें नहीं बन सकती जिन अर्थों में मुहम्मद अली जिन्ना ने हिन्दू और मुसलमान को दो कौमें बना दिया था तो पंजाब की कोई समस्या नहीं रहती। हिन्दू और सिख एक दूसरे के कन्धे से कन्धा मिला कर पंजाब के अधिकारों के लिए लड़ सकते हैं। किन्तु जब तक दो कौमों की बात होती रहेगी उस समय तक कोई समझौता सम्भव नहीं है। अगर हिन्दू एक अलग कौम है तो उन्हें भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ना पड़ेगा।

सरदार गुरचरण सिंह टोहरा ने कहा है कि हिन्दू और सिख एक हैं। वह एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। काश ! कि यही कुछ उन्होंने १९७८ में कहा होता तो आज पंजाब के हालात कुछ और होते। मैं तो देर से यह कहता आ रहा हूं कि हिन्दू और सिख एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। हमारे धर्म, हमारे इतिहास, हमारी संस्कृति ने इन दोनों को इस तरह बांध रखा है कि कोई शक्ति इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकती। शायद कुछ बातें टोहरा साहब भूल गए हों उन्हें आज फिर याद दिलाना चाहता हूँ।

१. श्री गुरु ग्रन्थ साहब में ३३० बार वेदों का उल्लेख हुआ है। जो कुछ गुरु साहेबान ने वेदों के विषय में लिखा है यदि मैं वह सब पेश करने लगूं तो ऐसा लगेगा कि शायद आर्य समाजियों को भी वेदों में इतनी श्रद्धा नहीं जितनी कि गुरु साहेबान को थी। जब श्री गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज ने यह लिख दिया कि चारों वेद ब्रह्मा ने अर्थात् परमेश्वर ने बनाए हैं तो शेष क्या रह गया।

२. गुरु गोविन्द सिंह जी ने लिखा है कि गुरु नानक देव जी का जन्म वेदी परिवार में हुआ था और वेदी वह थे जिनके घरों में वेदों का पाठ हुआ करता था।

३. श्री गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपना सम्बन्ध भगवान राम के सूर्यवंशी कुल से जोड़ा है। गुरु नानक देव जी वेदी थे, जिनके घर वेद पाठ हुआ करता था और गुरु गोविन्द सिंह सोढी थे जिनके पूर्वज सूर्यवंशी हुआ करते थे।

४. शायद इसीलिए गुरु तेग बहादुर जी ने अपने बलिदान से पूर्व जो पत्र अपने बेटे को लिखा था उसमें उन्होंने कहा था कि :—

संग सखा सब तज गए कोई न निभयोसाथ
कहो नानक इस विपद में टेक एक रघुनाथ

यह कौन से रघुनाथ थे जिन्हें गुरु महाराज ने याद किया था। हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में रघुनाथ तो रघुकुल शिरोमणि भगवान राम को ही कहा गया है। गुरु महाराज ने अन्तिम समय में उन्हें ही याद किया था।

५. श्री गुरु ग्रन्थ साहब में, वेद, राम, कृष्ण, हरि, नारायण, मधुसूदन इन का बार-बार उल्लेख हुआ है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इनका सम्बन्ध मुसलमानों से नहीं केवल हिन्दुओं से है अगर ग्रन्थ साहब में इन की चर्चा बार-बार हुई है तो क्या इसमें कोई सन्देह रह जाता है कि गुरु साहेबान की दृष्टि में हिन्दू और सिख

में कोई अन्तर न था। यह तो बाद में कुछ स्वार्थी लोगों ने राजनीति के चक्कर में पड़ कर पैदा किया था।

६. गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपनी आत्मकथा "विचित्र नाटक" हिन्दी में लिखी थी। इसीलिए उनके प्रसंग में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य में वीर रस का इतना बड़ा कवि और कोई पैदा नहीं हुआ और उन्होंने कृष्ण अवतार, राम अवतार, चण्डी चरित्र, चौबीस अवतार और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति बारे इतना कुछ लिखा था जितना किसी हिन्दू ने भी न लिखा हो। हिन्दू संस्कृति के लिए उन्हें जितनी श्रद्धा थी उसका अनुमान उन द्वारा लिखित राग सोरकी के इन शब्दों से लगाया जा सकता है :—

प्रभु जू तो कह लाज हमारी
नीलकंठ नर हरि नारायण नील वसन बनवारी।

क्या अब भी कोई सन्देह रह जाता है कि गुरु साहेबान हिन्दू थे या नहीं।

हमारे अकाली मित्र यह कहते नहीं थकते कि वह हिन्दू नहीं हैं। जब उन्हें कोई हिन्दू कहता है तो वे उससे चिड़ते हैं। मेरी यह धारणा रही है और अब भी है कि किसी को जबरदस्ती हिन्दू नहीं बनाया जा सकता। यदि अकाली इस बात पर अड़े हुए हैं कि वे हिन्दू नहीं हैं तो हम बार-बार उन्हें यह कह कर क्यों परेशान करें कि वे हिन्दू हैं। सिख रहते हुए भी वह हमारे वैसे ही भाई हैं जैसे कि हिन्दू। हिन्दुओं में भी तो आर्य समाजी, सनातन धर्मी और जैनी जैसे कई विभिन्न समुदाय हैं। यदि हम सब मिल कर चल सकते हैं तो सिखों के साथ क्यों नहीं चल सकते। या सिख हमारे साथ क्यों नहीं चल सकते। इसलिए मैं कभी भी इस बात हर जोर नहीं देता कि सिख हिन्दू हैं।

लेकिन गुरु नानकदेव जी से लेकर गुरु गोविन्द सिंह जी तक जितने गुरु हुए है उनमें और आज के सिखों में हमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य करना पड़ेगा। जो कुछ गुरु साहेबान ने किया वह सब कुछ हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए किया था। वास्तविकता यह है कि वह हिन्दू धर्म के प्रति समर्पित थे। अपने इस दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए उनके जीवन की कुछ घटनाएं आगे चल कर प्रस्तुत करूंगा। यहां तो टोहरा साहब की जानकारी के लिए मैं अपने इतिहास की केवल दो बातें उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ। पहली यह कि श्री गुरु तेग बहादुर जी महाराज ने अपना बलिदान हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए ही दिया था। उन्हें किसी ने औरंगजेब के पास जाने के लिए विवश नहीं किया था। यदि किसी ने उन्हें थोड़ी बहुत प्रेरणा दी थी तो उनके ६ वर्ष के बेटे

गोबिन्दराय ने दी थी। जब उनके बेटे ने उनसे कहा कि इस समय धर्म की रक्षा के लिए किसी महापुरुष के बलिदान की आवश्यकता है तो गुरु तेग बहादुर कह सकते थे कि हमारा हिन्दुओं से क्या सम्बन्ध। यह मरते हैं तो मरने दो। काश्मीर के जो पंडित उनके पास आए थे उनसे वह कह सकते थे कि मैं तुम्हारी मदद तब करूंगा यदि तुम सब पहले सिख बन जाओ। लेकिन उस समय तक तो खालसा पंथ सजाया ही नहीं गया था। इसलिए यदि एक मिनट के लिए यह मान भी लिया जाए कि सिख हिन्दू नहीं हैं तो इसका यहअभिप्राय हुआ कि जब तक गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा पंथ नहीं सजाया उस समय तक तो सब हिन्दू ही थे। और सम्भवत: यही कारण था कि गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज ने कहा था :—

"सकल जगत् में खालसा पंथ गाजे
जगे धर्म हिन्दू सकल भंड भागे"

यदि सरदार गुरचरन सिंह टोहरा गुरु गोविन्द सिंह की भावनाओं को ठीक तरह से समझने को तैयार हों तो जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है। इसका अभिप्राय है कि गुरु गोविन्द सिंह की दृष्टि में खालसा पंथ और हिन्दू धर्म यह दोनों एक थे। जहां वह यह कहते हैं कि सकल जगत् में खालसा पंथ गाजे, साथ ही वह यह भी कहते हैं कि जगे धर्म हिंदू। वह हिंदू धर्म को जगाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने खालसा पंथ सजाया था आज के अकाली इसे यदि समझने को तैयार नहीं तो इसका कोई इलाज नहीं। इसीलिए मैं कई बार कहा करता हूँ कि अकालियों और सिखों में भेद करना पड़ेगा। अकाली तो गुरु साहेबान के उपदेशों से इधर-उधर हो सकते हैं और आज हो भी रहे हैं। कोई सिख नहीं हो सकता। जो भी गुरु का सच्चा सिख है उसे गुरु गोविन्द सिंह जी की यह बात माननी पड़ेगी कि "सकल जगत् में खालसा पंथ गाजे। और जगे धर्म हिन्दू सकल भंड भागे।"

श्री गुरु गोविन्द सिंह का जन्म पटना में हुआ था। उनका पालन-पोषण आनन्दपुर साहिब में हुआ। और उन का देहान्त महाराष्ट्र के एक स्थान नांदेड़ में हुआ था। इसलिए सारा भारत ही उनकी जन्मभूमि थी। हमारे अकाली दोस्त तो अपने आपको पंजाब तक सीमित रखना चाहते हैं लेकिन दस के दस गुरु साहेबान सारे देश में घूमते रहे और अपने धर्म का प्रचार करते रहे। गुरु नानक देव जी तो इरान और इराक से होते हुए मक्का और मदीना भी जा पहुंचे थे। पाठकगण आप जरा अनुमान लगाएं कि गुरु साहेबान किस सीमा तक विशाल हृदय और विशाल दृष्टि रखते थे। वह स्वयं को एक छोटे से कुएं में बन्द करना नहीं चाहते थे। सारे भारत को वह अपना देश समझते थे। इसलिए उन्होंने जगह-जगह गुरुद्वारे बनाए थे। उनके समय में

कभी किसी ने खालिस्तान की बात नहीं की थी। गुरु गोबिन्द सिंह जी महाराज ने खालसा पंथ स्थापित करते समय भी यह नहीं कहा था कि इसके बाद खालिस्तान कायम किया जाएगा। आज तो हमारे अकाली मित्र दो कौमों की बात करते हैं। दसों के दसों गुरुओं में से किसी ने किसी अन्य कौम की बात नहीं की थी। जिसे अकाली कौम कहते हैं, गुरु साहेबान उसे या तो उसे पंथ कहते थे या संगत कहते थे। जब किसी ने गुरु गोविन्द सिंह जी से पूछा कि यह खालसा पंथ क्यों स्थापित किया गया है तो उन्होंने उत्तर दिया :—

"आगिया भई अकाल की तबै चलायो पंथ
सब सिक्खन को हुक्म है गुरु मानियो ग्रन्थ"

यहां आकर सारी बात खत्म हो जाती है। उन्होंने कहा कि अकाल अर्थात् परमात्मा का यह आदेश था। उसके अनुसार मैंने यह पंथ स्थापित कर दिया है। इसी से हम कुछ अनुमान लगा सकते हैं कि जो लोग आज दो कौमों की बात करते हैं वास्तव में उनका उद्देश्य क्या है।

वैसे तो मेरा यह विश्वास है कि सभी दसों गुरुओं का हिन्दू धर्म में पूरी विष्ठा थी और वह अपने आप को उसके पाबन्द समझते थे। मैं आगे चल कर बताऊंगा कि वह हिंदू धर्म के पाबन्द किस तरह रहे। आज तो एक और बात की ओर टोहरा साहिब का ध्यान दिलाना चाहता हूं। यह मैं इस लिए लिख रहा हूँ कि क्योंकि मैं यह अनुभव करता हूँ कि टोहरा साहिब के विचारों में कुछ परिवर्तन आ रहा है। हाल ही में उनके जो वक्तव्य समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है। कि वह हिन्दुओं के निकट आ रहे है। वह यदि हमारे निकट आ रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि हम उनके निकट न जाएं। इसलिए कुछ ऐसी घटनाएं प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिन के द्वारा हिन्दुओं और सिखों के सम्बन्ध सुदृढ़ बनाए जा सकें।

मेरे अकाली मित्र पंजाब में हिंदी को सहन करने को तैयार नहीं। उनका रवैया कहां तक उचित है मैं इस समय इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता। लेकिन टोहरा साहब की जानकारी के लिए निवेदन करना चाहता हुं कि :—

1- शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी यह कह चुकी है कि गुरु गोविन्द सिंह की मातृभाषा हिंदी थी। मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि यदि गुरु महाराज की मातृ भाषा हिंदी हो सकती थी तो हमारी क्यों नहीं।

2- गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपनी आत्म कथा "विचित्र नाटक" हिन्दी में भी लिखी और उसमें अधिकांश शब्द संस्कृत के ही प्रयोग किए हैं। उनके समय में आज की

पंजाबी कोई नहीं जानता था। यह तो अकालियों की घड़ी हुई पंजाबी है। यह गुरु गोविन्द सिंह की पंजाबी नहीं है।

3- गुरु महाराज ने अपनी इस आत्मकथा 'विचित्र नाटक' को संस्कृत के इन शब्दों के साथ समाप्त किया था :—

'इति श्री विचित्र नाटक ग्रन्थे समाप्तमस्ते शुभमस्तु।'

4- गुरु जी ने अपने दरबार के कई पंडित संस्कृत पढ़ने के लिए बनारस भेजे थे।

5- उनके दरबार में 52 कवि थे जिनमें अधिकतर हिंदी के कवि थे। उन कवियों के काव्य संग्रह को 'विद्यासागर' का नाम दिया गया था।

6- एक कवि थे उनका नाम था 'सेनापति'। गुरु महाराज ने उसे चाणक्य नीति का भाषानुवाद करने को कहा था।

7- एक कवि थे उनका नाम था हंसराज। गुरु महाराज ने उसे महाभारत के कर्ण पर्व का अनुवाद करने को कहा था।

8- एक कवि था "अमृतराय" उसे महाभारत के 'सभा पर्व' का अनुवाद करने को कहा गया था।

9- एक कवि थे "मंगल"। उसे भी महाभारत का अनुवाद करने को कहा गया था।

10- अभिप्राय: यह कि महाभारत और अन्य हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद कराया गया। इस पर भी हमारे अकाली मित्र कहते हैं कि हम हिन्दू नहीं हैं।

श्री गुरचरण सिंह टोहरा कहते हैं कि वह हिंदू नहीं हैं। साथ यह भी कहते है कि हिन्दुओं और सिखों का अटूट सम्बन्ध है खालसा को हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए स्थापित किया गया था। और सिख इसे गर्व की बात समझें कि उन्हें यह काम सौंपा गया था। इसलिए उन्होंने सिखों से कहा है कि वह अपनी परम्परागत उदारता और भाईचारे से काम लेते हुए हिन्दुओं का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

मैं कह चुका हूं कि जो लोग अपने आपको हिन्दू कहलाने में लज्जा महसूस करते हैं। हम उन्हें हिंदू कहने को विवश करना नहीं चाहते। वह इसलिए भी कि प्रत्येक व्यक्ति हिंदू नहीं बन सकता हिंदू एक विशेष प्रकार की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस विचारधारा की रक्षा के लिए महराणा प्रताप, छत्रपति शिवा जी और गुरू गोविंद सिंह ने अपनी तलवार उठाई थी। इसलिए हिंदू बनना कोई आसान काम नहीं है। कोई ऐरा-गैरा हिंदू नहीं बन सकता इसलिए यदि गुरचरण सिंह टोहरा और उनके साथी कहते हैं कि वे हिंदू नहीं हैं तो मैं तो कम से कम यह मानने को तैयार हूं वे हिंदू नहीं हैं।

लेकिन मैं कई बार लिख चुका हूँ और आज पुन: डंके की चोट कहता हूं कि जहां तक गुरु नानक देव जी से लेकर गुरु गोविंद सिंह तक दसों गुरु साहेबान का सम्बन्ध है, वे हिंदू थे। कोई शक्ति उन्हें हमसे छीन नहीं सकती। गुरचरण सिंह टोहरा जैसे व्यक्ति के दिमाग में यह बात नहीं बैठती कि गुरु साहेबान हिंदू थे। लेकिन टोहरा साहब की जानकारी के लिए मैं यह लिख देना चाहता हूं कि एक प्रसिद्ध पत्रकार और इतिहासकार खुशवन्त सिंह ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि दसों के दसों गुरु हिंदू थे। खुशवन्त सिंह ने सिख इतिहास पर अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी है। उसके शुरू में ही उसने लिखा दिया है। कि सब गुरु साहेबान हिंदू थे। यह एक टकसाली सिख रहा है। और यह मेरे इस विचार की पुष्टि है कि गुरु साहेबान हिंदू थे। मैं कुछ ऐतिहासिक घटनाएं इससे पहले ऐसी प्रस्तुत कर चुका हूँ जो यह प्रमाणित करती हैं कि गुरू साहेबान हिंदू थे। गुरु गोविंद सिंह जी महाराज ने अपनी पुस्तक 'विचित्र नाटक' में राम अवतार, कृष्ण अवतार, कलकी अवतार, नर अवतार, ब्रह्म अवतार, रूद्र अवतार, पारसनाथ अवतार और इस प्रकार की जो और बातें लिखी है, वह एक हिंदू ही लिख सकता है, कोई अन्य नहीं। अपनी इस आत्मकथा में उन्होंने यह भी बताया है कि उन्होंने इस धरती पर जन्म क्यों लिया और अपने इस श्लोक को वह इन शब्दों से शुरू करते हैं :

"हम इह काज जगत मो आए। धर्म हेतु गुरूदेव पढ़ाए। जहां तहां तुम धर्म बिथारों। दुष्ट देखियन पकरि पछारो। या ही काज धरा हम जनमं समझि लेहु साधु सब मनमं। धरम-चलावन सन्त उबारन दुष्ट सभन को मूल उपारन"

यदि टोहरा साहिब ने गीता पढ़ी है उसमें भगवान कृष्ण का वह उपदेश पढ़ा होगा जो उन्होंने कुरूक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को दिया था, और जिसमें उन्होंने बताया था कि जब-२ धर्म पर कोई मुसीबत आती है और धर्मात्माओं पर अत्याचार होते हैं तो उस समय धर्म की रक्षा करने और धर्मात्माओं को बचाने के लिए युग-2 में मैं जन्म

लिया करता हूं। कोई बताए कि जो कुछ भगवान कृष्ण ने कहा था, उसमें और जो कुछ गुरु गोविंद सिंह जी ने कहा था, उसमें क्या अन्तर है। दोनों को पढ़ने के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि गुरु गोविंद सिंह जी पर भगवान कृष्ण की शिक्षाओं का इतना प्रभाव था कि जो कुछ 5 हजार वर्ष पूर्व भगवान कृष्ण ने अपने बारे में कहा था; वही कुछ गुरु गोविंद सिंह जी ने अपने बारे में कह दिया।

लेकिन यह क्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। चूंकि हमारे अकाली मित्र गुरु साहेबान के लिखे साहित्य को नहीं पढ़ते इस लिए कई बातें उन्हें याद दिलानी पड़ती हैं। उसी सम्बन्ध में गुरु गोविंद सिंह जी के लिखे हुए दो और श्लोक मैं पेश करना चाहता हूं। पहला था :—

"यही देहु आगिया तुरक को मिटाऊं
गऊ घात का पाप जग से हटाऊं"
और दूसरा था :—
"तिलक जंजू राखा प्रभु ताका,
कीनों बड़ी कलूमही साका"

इन दोनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु महाराज ने गऊ घात के पाप को मिटाने का संकल्प कर रखा था। आज के अकाली तो कहते हैं कि सिख और मुसलमान भाई-भाई हैं। लेकिन गुरु गोविंद सिंह जी तो 'तुर्क' को मिटाना चाहते थे और साथ ही तिलक तथा जंजु अर्थात् यज्ञोपवीत की रक्षा करना चाहते थे।

क्या इसके बाद भी कोई कह सकता है कि गुरु साहेबान हिंदू नहीं थे। गुरु गोविंद सिंह के सारे साहित्य में कहीं भी यह नहीं लिखा गया कि वह हिंदू नहीं हैं या हिंदू धर्म से उनका कोई संबंध नहीं था।

आज मैं अपने अकाली मित्रों की एक और भ्रान्ति भी दूर करना चाहता हूं। वह प्रायः पंजाब, पंजाबी और पंजाबियत का बहुत रोना रोया करते हैं। क्या उन्हें यह पता है कि श्री गुरु गोविंद सिंह ने अपने 'विचित्र नाटक' में कहीं भी पंजाब का उल्लेख नहीं किया। उनका जन्म पटना में हुआ था। और उनके पिता श्री गुरु तेग बहादुर जी उन्हें आनन्दपुर साहिब ले आए थे। इसके बारे में गुरु गोविंद सिंह जी अपने "विचित्र नाटक" में लिखते हैं।

"तहीं प्रकाश हमारा भयो। पटना सहर विखे भवलयो। मद्र देस हम को ले आए। भांति-भांति दायन दुलराय"

गुरू महाराज ने पंजाब का उल्लेख नहीं किया, किसी मद्र देश का उल्लेख किया है जहां उनके पिता उन्हें ले आए थे। हम जानते हैं कि वह आनन्दपुर साहिब था जिसका अभिप्राय है कि श्री गुरू गोविंद सिंह के समय में यह इलाका पंजाब नहीं था मद्र देश था।

पटना से चल कर गुरू गोविंद सिंह कहां आए थे। जहां तक हम जानते हैं उनका बचपन बहुत कुछ आनन्दपुर साहिब में ही गुज़रा था। यहीं कश्मीर के हिंदू पंडित गुरू तेगबहादुर जी से आकर मिले थे। और यहीं गुरू गोविंद सिंह जी ने अपने पिता जी से कहा था कि इस समय किसी बहुत बड़े बलिदान की आवश्यकता है यह सब कुछ आनन्दपुर साहिब में हुआ था। प्रश्न पैदा होगा कि आनन्दपुर साहिब उस समय कहां था। गुरू महाराज ने उस क्षेत्र का नाम मद्र देश लिखा है, पंजाब नहीं लिखा। तो क्या इस का अभिप्राय यह हुआ कि उनके समय में पंजाब नाम का कोई क्षेत्र नहीं था? नहीं था, तो कब इस क्षेत्र को पंजाब नाम दिया गया। यदि यह गुरू गोबिन्द सिंह के बाद दिया गया तो पंजाब पंजाबी और पंजाबियत का सारा दावा समाप्त हो जाता है और आज पंजाब पंजाबी और पंजाबियत पर जितना शोर मजाया जा रहा है, वह सब अर्थहीन है। मैंने गुरू गोबिन्द सिंह के बारे में बहुत सा साहित्य पढ़ा है। उनका लिखा हुआ 'विचित्र नाटक' भी पढ़ा है। मुझे कहीं भी पंजाब पंजाबी या पंजाबियत का उल्लेख देखने में नहीं मिला। खालसा, पंथ, सगत इस प्रकार के शब्द तो बहुत मिलते हैं। लेकिन पंजाबी का कहीं उल्लेख नहीं है। और जहां तक मैं जानता हूं गुरू साहेबान ने पंजाबी पर इतना जोर नहीं दिया था जितना गुरूमुखी पर। गुरूमुखी लिपी गुरू अंगददेव ने बनाई थी, इसलिए यदि पंजाबी की बजाए गुरूमुखी पर जोर दिया जाए तो उसका अर्थ कुछ और निकलेगा। लेकिन हमारी कठिनाई यह है कि हमारे अकाली दोस्त किसी तर्क के आधार पर नहीं चलते। भावनाओं के आधार पर सब काम करते हैं। इसका यह परिणाम है कि वह तथ्यों को अनदेखा कर देते हैं। जब किसी एक बात पर एक गलत स्टैंड ले लें और फिर उस में से निकलने का कोई रास्ता दिखाई न दे तो फिर चिल्लाते हैं। कुछ भी हो मेरा तो सीधा प्रश्न है, वह यह कि पटना से चलने के बाद गुरू गोविन्द सिंह जी कहां गए थे। जिस आन्नदपुर साहिब में वह गए थे, वह कौन से पंजाब में था। और जिस मद्र देश का उल्लेख गुरू महाराज ने अपने "विचित्र नाटक" में किया है, वह कहां था?

आकालियों की एक कठिनाई भी है। वह गुरू साहेबान के लिखे साहित्य को पढ़ते नहीं। गुरुद्वारों के ग्रन्थी उन्हें जो सुना देते हैं उसके आधार पर वह अपने मोर्चे

लगा देते हैं। जो कुछ गुरू साहेबान ने कहा था यदि वह पूरी गम्भीरता से उसका अध्ययन करें तो उनकी आंखें खुल जाएंगी और वह स्वयं हैरान होंगे कि वे किधर जा रहे हैं। मैंने पूर्व भी लिखा था कि गुरू गोविन्द सिंह ने अपनी आत्मकथा "विचित्र नाटक" संस्कृत के कुछ शब्दों के साथ समाप्त की थी। यह लिखने के बाद मैंने उस पुस्तक को पुनः देखा और मुझे यह देख कर और भी अधिक खुशी हुई और हैरानी भी कि गुरू महाराज ने अपनी उस पुस्तक का प्रत्येक अध्याय संस्कृत के साथ समाप्त किया है। अर्थात् उन्हें संस्कृत में उतनी ही श्रद्धा थी जितनी कि किसी हिन्दू को हो सकती है। और यह केवल इसलिए कि उन्होंने हिन्दू और सिख में कोई अन्तर नहीं समझा था। हिन्दू धर्म के लिए उनके दिल में वही श्रद्धा थी जो किसी हिन्दू के दिल में हो सकती है। वास्तविकता तो यह है कि चूंकि उन्हें हिन्दू धर्म में आस्था थी इसलिए उसकी रक्षा के लिए ही उन्होंने खालसा पंथ सजाया था। आज तो रक्षक भी भक्षक बन गए हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज का कदापि यह उद्देश्य नहीं था। वह तो यही कहा करते थे "जगे धर्म हिन्दू सकल द्वंद्व भागे।

यह तो मैंने दसवें गुरू श्री गुरू गोविन्द सिंह जी महाराज के बारे में लिखा है। हिन्दू धर्म और हिन्दू परम्पराओं में सिख गुरुओं को कितनी श्रद्धा थी इसका एक और उदाहरण भी पेश करना चाहता हूँ। तीसरे गुरू अमरदास जी के बारे में कहा जाता है कि जब उनका देहांत होने लगा तो उन्होंने अपने सारे परिवार को अपने पास बुला लिया। और उन्हें यह उपदेश दिया कि, "मेरे पीछे कोई भी रोएगा तो वह हमें अच्छा नहीं लगेगा, और सारे परिवार से गुरू रामदास जी ने चरणों में शीश निवाकर कहा कि मेरे पीछे कीर्तन करना और गोपाल पंडित को बुलाकर पुराण की कथा करवाना और पिण्ड पत्तल किरिया दीवा आदि सहित फूल गंगा जी में बहा देना।" कोई बताए यह सब कुछ कहने वाले कौन थे। कई हिन्दू भाई यही सब कुछ करते हैं जो गुरु अमरदास जी ने उस समय कहा था। और उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि वह 22 बार गंगा स्नान के लिए हरिद्वार गए थे। मुझे कोई बताए कि इससे बड़ा क्या कोई और हिन्दू हो सकता है। मैंने जो श्री गुरू अमरदास जी के बारे में लिखा है, यह श्री गुरूग्रन्थ साहिब के पृष्ठ 923 राग रामकली में आपको मिल जाएगा।

जिन महापुरूषों की वाणी श्री गुरू ग्रन्थ साहिब में शामिल की गई है, उनमें एक नामदेव भी थे। वह हरि का नाम लेने के बारे में जो कुछ लिखते हैं वह निम्न-लिखित है :—

"हरि हरि करत मिटे सभ भरमा। हरि को नाम लै उत्तम धरमा
हरि हरि करत जात कुल हरि। सो हरि अन्धले की लाकरि

हरि-ए नमस्ते हरि-ए नमन । हरि हरि करत नहीं दुख जमः ।"

इसमें आर्य समाजियों की नमस्ते भी की गई । यदि मैं श्री गुरू ग्रन्थ साहिब से उन सब की वाणी नकल करने लगूं जिन की वाणी उस में शामिल की गई है तो पाठक हैरान हो जाएंगे कि हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू परम्पराओं के बारे में श्री गुरू ग्रन्थ साहिब में क्या लिखा गया है । चूंकि अकाली श्री गुरू ग्रन्थ साहिब ही नहीं पढ़ते उन्हें पता ही नहीं उसमें क्या कुछ लिखा गया है । **यदि पढ़ें और जो कुछ** उस में लिखा गया है उसे समझने का प्रयत्न करें तो जो बातें अब करते हैं, वह कभी न करें, कम से कम यह नहीं कहेंगे कि हम हिन्दू नहीं हैं । मैं इसी लिए कहा करता हूं कि हमें अकालियों में और सिखों में अन्तर समझना चाहिए । कोई भी सिख जो गुरू साहेबान के पद चिन्हों पर चलता है, कभी हिन्दुओं के विरुद्ध नहीं हो सकता । अकाली चूंकि ग्रन्थ साहिब गम्भीरता से नहीं पढ़ते इसलिए वह हिन्दुओं के विरुद्ध बोलते रहते हैं ।

मैंने प्रारम्भ में गोविन्द सिंह जी और गुरू अमरदास जी की वाणी को काफी उद्धृत किया है । गुरू तेग बहादुर के बारे में भी लिखा है और श्री गुरू ग्रन्थ साहिब को भी उद्धृत किया है । इस विषय पर लिखना चाहूं तो बहुत कुछ लिख सकता हूं । मुझे इस बात का खेद है कि हमारे अकाली मित्र गुरु साहेबान के लिखे हुए साहित्य को कभी नहीं पढ़ते, गुरु साहेबान का साहित्य तो दूर रहा, ऐसा प्रतीत होता है कि वह ग्रन्थ साहब भी नहीं पढ़ते । कोई व्यक्ति जो ग्रन्थ साहब और गुरु साहेबान के साहित्य को पढ़ जाए, कभी यह नहीं कह सकता कि हिन्दू और सिख दो कौमें हैं । लेकिन हमारे अकाली दोस्त लगातार यही रट लगाते चले जा रहे हैं कि हिन्दू और सिख दो कौमें हैं । इसीलिए सिखों के लिए विशेष पृथक् क्षेत्र की आवश्यकता है । गुरु नानकदेव जी महाराज तो अपने धर्म का प्रचार करते हुए ईरान, इराक और मक्का मदीना तक जा पहुंचे थे । श्री गुरु तेग बहादुर बाबा बकाला से चले और असम तक जा पहुंचे । गुरु गोविन्द सिंह का जन्म बिहार में हुआ था । उन का पालन-पोषण पंजाब में हुआ था । उन का देहान्त महाराष्ट्र में जा कर हुआ । गुरु साहेबान ने कभी यह नहीं कहा था कि यह इलाका हमारा है यह दूसरे का है । उनके लिए जो सारा संसार ही उनका था । इसलिए उन्होंने कभी पंजाबी सूबा की मांग नहीं की थी न उनके दिमाग में कभी आनन्दपुर साहिब के प्रस्ताव जैसी बातें आई थीं । उनके सोचने का ढंग क्या था इस का अनुमान हम इससे लगा सकते हैं कि गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपने बारे में यह लिखा है कि उन्होंने कभी हेमकुंड में तपस्या की थी । यह हेमकुंड बद्रीनाथ जाते हुए रास्ते में आता है । वहां एक बहुत बड़ा गुरुद्वारा भी बन गया है । आज तो हमारे सिख भाई जब चाहें वहां चले जाते हैं उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । कल को यदि

खालिस्तान बन जाए तो उन्हें पटना साहेब जाने के लिए भी पासपोर्ट की ज़रूरत पड़ेगी दिल्ली सीस गंज गुरुद्वारा, रकाबगंज, और दिल्ली के अन्य गुरुद्वारों को देखने के लिए भी उसी तरह पासपोर्ट लेना पड़ेगा जिस तरह आज ननकाना साहेब जाने के लिए लेना पड़ता है। अभिप्राय यह कि हमारे अकाली भाई स्वयं ही तो ऐसी परिस्थियां पैदा कर रहे हैं कि वह न केवल हिन्दुओं से कट जाएं बल्कि अपने उन ऐतिहासिक गुरुद्वारों से भी कट जाएं जो सिख पंथ की सबसे बड़ी पूंजी है। और जिन गुरुद्वारों पर केवल सिख ही नहीं हिन्दू भी गर्व करते हैं।

इस पुस्तिका को समाप्त करने से पहले मैं एक और बहुत बड़े सिख का उदाहरण अकालियों के सामने रखना चाहता हूँ। वह थे महाराजा रणजीत सिंह। वह बड़े कट्टर सिख थे। परन्तु साम्प्रदायिकता और धार्मिक संकीर्णता उनके निकट तक नहीं फटकती थी। उनके शासनकाल में हिंदू, मुसलमान सिख सबके साथ एक जैसा व्यवहार किया जाता था और उनके दिल में हिंदू धर्म के लिए वही श्रद्धा थी जो सिख धर्म के लिए थी। दो तीन उदाहरण मेरे इस विचार की पुष्टि करते हैं। उनके समय में अफगानिस्तान में गृह युद्ध चल रहा था। वहां के बादशाह शाह शुजा को वहां से भागना पड़ गया। उसने महाराजा रणजीत सिंह से सहायता मांगी। महाराजा रणजीत सिंह ने अपनी दो शर्तें पेश की। एक यह कि महमूद गजनवी सोमनाथ मन्दिर के जो दरवाजे वहां से निकाल कर ले गया था, वह वापिस किए जाएं। दूसरी यह कि अफगान यह वचन दें कि भविष्य में वे गोवध नहीं करेंगे। इससे पहले महाराजा रणजीत सिंह ने कोहेनूर का हीरा भी उनसे मांगा था। शाह शुजा महाराजा की दोनों शर्तें मान गया और कोहेनूर का हीरा भी उन्हें दे दिया गया। एक ओर तो हमारे सामने महाराजा रणजीत सिंह का उदाहरण है जो इतने गोभक्त थे कि उन्होंने अफगानिस्तान के बादशाह से भी यह वचन ले लिया था कि वह गोहत्या नहीं करेगा। दूसरी ओर आजकल कई वह लोग हैं जो स्वयं को अकालियों की छत्र-छाया में काम करते बताते हैं, वह गौओं के सिर काट कर मन्दिरों में फैंक देते हैं। महाराजा रणजीत सिंह हिंदू और सिख दोनों को किस तरह एक ही स्तर पर रखने का प्रयत्न करते थे उसका अनुमान हम इससे लगा सकते हैं कि एक ओर विधिवत रूप से ग्रन्थ साहिब पाठ किया करते थे। अमृतसर के हर मन्दिर के लिए उन्होंने बहुत कुछ दिया था और उस पर आज जितना सोने का छत्र चढ़ा है, वह भी महाराजा रणजीत सिंह ने ही दिया था। दूसरी ओर उन्होंने अपने देहान्त से पहले यह वसीयत कर दी थी कि कोहेनूर का हीरा जगन्नाथपुरी के मन्दिर को दिया जाए। उन्होंने बनारस के विश्वनाथ मन्दिर के लिए भी बहुत सोना भेजा था। कांगड़ा और ज्वालामुखी के मन्दिरों के लिए बहुत दान दिया था।

कोई बताए कि क्या महाराजा रणजीत सिंह सिख नहीं थे और सिख होते हुए भी यदि उनके दिल में हिंदू धर्म देवी-देवताओं और हिंदू मन्दिरों के लिए इतनी श्रद्धा थी

तो केवल इसलिए कि वह हिंदुओं को सिखों से अलग नहीं समझते थे। हिंदू धर्म और सिख धर्म में कोई अन्तर न समझते थे। जो कुछ भी हमारे गुरू कह गए हैं और जो कुछ महाराजा रणजीत सिंह ने कहा था और किया था, उसे सुनने और देखने के बाद यदि अकालियों की कारगुजारी पर किसी को खेद हो तो इस के लिए अकाली स्वयं ही जिम्मेदार हैं।

लेकिन कहते हैं कि सुबह का भूला यदि शाम को घर आ जाए तो उसे भूला नहीं कहते। हाल ही में सरदार गुरचरण सिंह टोहरा और संत हरचंद सिंह लौंगोवाल ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिए हैं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अपनी त्रुटि का आभास होने लगा है। कहावत मशहूर है, "जब दिया रंज बुतों ने तो खुदा याद आया।" अब जबकि इन्दिरा सरकार ने उन की जीना दूभर कर रखा है और उस उलझन में से निकलने का उन्हें कोई रास्ता दिखाई न दे रहा, जिस में कि वे फंस गए हैं, तो वे कहने लगे है कि हिन्दू और सिख एक हैं। इसलिए सिखों को हिन्दुओं का विश्वास प्राप्त करना चाहिए। मैं इन दोनों महानुभावों के इन वक्तव्यों का स्वागत करता हूँ। यदि वह अब भी हिन्दुओं को साथ लेकर पंजाब की समस्या हल करने का प्रयत्न करें तो बहुत कुछ हो सकता है। मैंने टोहरा साहब से यह अनुरोध किया है कि अब वह वापिस आ जाएं। इससे मेरा अभिप्राय केवल यह है कि वह गुरु के चरणों में वापिस आ जाएं। वह भटक गये हैं गुरु साहेबान के रास्ते पर चलने में ही उन का भी कल्याण है और हमारा भी। इसलिए यदि सरदार गुरचरण सिंह टोहरा पंजाब को बचाना चाहते हैं तो उन्हें अपना पहला रास्ता छोड़कर उसी पर चलना चाहिए जो गुरु साहेबान ने हमें बताया था। अर्थात् प्यार सद्भावना, सहनशीलता और भाई-चारे का रास्ता।

— 0 —

"विश्व-पर्यावरण दिवस"

५ जून, १९८३

(ले०—डा० विजय शंकर जी)

"पर्यावरण से हमारा तात्पर्य अपने या किसी भी जीव या जीव समूह के बाहर विद्यमान परिवेश समस्त वस्तुओं, पदार्थों एवं कारकों के समुच्चय या सम्मिश्रण से हैं, जैसे-जल, वायु, पृथ्वी, धुआं, ध्वनि, मोटर, रेल, वायुयान, जन्तु-वनस्पति, मनुष्य आदि।

मनुष्य के द्वारा की गई अनेक क्रियाओं के फलस्वरूप आज पर्यावरण में ऐसे परिवर्तन आ रहें हैं जो समस्त प्रकार के जीवन के लिये हानिकारक हैं। इस प्रकार हमारा पर्यावरण दूषित हो रहा है। इस समस्या की ओर आज पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

वर्तमान जगत की यह समस्या जो भयावह रूप से मानव सभ्यता को निगल जाने के लिये अपने पंजे बढ़ा रही है प्रदूषण की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति की पर्यावरण के प्रति सहनशीलता की निश्चित सीमायें हैं और जब कोई कारक इन सीमाओं से अधिक मात्रा में उपस्थित होता है उसे प्रदूषण कहते हैं। इससे निबटने के लिये, वातावरण में इस विष-वमन की प्रतिक्रिया को रोकने के लिये सभी देशों की सरकारें प्रयत्नशील है। इस विष को पीने के लिये भगवान शिव की तरह सबसे अधिक सफल माध्यम वृक्ष पाये गये हैं। इनकी पत्तियां वायु में मिले प्रदूषक पदार्थों के सूक्ष्म कणों को रोक और सोख लेती है। पत्थर के कोयले से उत्पन्न प्रदूषक रोकने के लिये "जंगल जलेबी" नामक वृक्ष का सघन रोपण बहुत लाभकारी पाया है। यह धुंए की सांद्रता में लगभग "27 प्रतिशत" की कमी और सल्फर डाय-आक्साइड की सांद्रता में "80 प्रतिशत" की कमी करने में समर्थ पाया गया। शक्ति-चालित वाहन जैसे-कारें, ट्रक एवं बसें भी प्रदूषण के स्रोत हैं। यदि सड़कों और मकानों के बीच 10 मीटर चौड़ी तथा 6 मीटर ऊंची हरित पट्टिका का विकास किया जाये तो मार्गों से आने वाले कार्बन मोनो आक्साइड की "मात्रा में 44 प्रतिशत" कमी हो जाती है।

वायु के समान जल भी प्रदूषण से मुक्त नहीं है। कारखानों से निकलने वाले नाना प्रकार के प्रदूषक पदार्थ नदियों में प्रवाहित किये जाते हैं। इसीलिये कानपुर के निकट गंगा और कलकत्ता के निकट हुगली नदी प्रदूषण का शिकार है। इस समय भारत के 13 नगर जल प्रदूषण से ग्रस्त हैं। कारखानों से निकालने वाले अनेक ट्रेस एलीमेंट नदी के जल में प्रवाहित हो जाते हैं जिनमें से कुछ पौधों और जन्तुओं में मेटाबोलिक एरर पैदा कर देते हैं जिससे कई प्रकार के रोग हो जाते हैं जैसे-केंसर, हृदय रोग, स्नायु रोग एवं पेट के रोग।

प्रदूषण के लिये प्राय: जन-संख्या को उत्तरदायी माना जाता है। बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकता की पूर्ति के लिये अधिक औद्योगीकरण किया जाता है जिससे प्रदूषण में वृद्धि होती है। किन्तु आज हम देखते हैं कि अनेक विकसित देशों में जनसंख्या कम होने में जनसंख्या कम होने पर भी प्रदूषरण अधिक जनसंख्या वाले देशों की तुलना में अधिक है क्योंकि वहां प्रति व्यक्ति आवश्यकता है। अत: वास्तविक दोष तृष्णा का है। इसीलिये हमारे वैदिक ऋषियों ने "इदन्नमम" को इतना महत्व दिया है।

वातावरण संरक्षण

प्रदूषरण को कम करने के अतिरिक्त पौधों का वातावरण संरक्षण में भी अत्याधिक महत्व है। वृक्षों का बेहिसाब काटा जाना, जंगल के जंगल, साफ कर देना प्रकृति में असन्तुलन पैदा कर देता है। इसके दूरगामी परिणाम होते हैं-भूमि का "अपरदन" प्रारम्भ हो जाता है, भूमि कृषि के "अयोग्य" हो जाती है। ताप-नियन्त्रण एवं "जलचक्र" नियन्त्रण बिगड़ जाता है, जन्तु जीवन के प्राकृतिक निवास एवं वन संपदा नष्ट हो जाते हैं। प्रत्यक्ष है कि वातावरण संरक्षण और वृक्षों का गहरा सम्बन्ध है। "रक्षया प्रकृति पातु लोका:।" ब्रह्मोपनिषद का यह वाक्य मनुष्य को सदैव याद रखना पड़ेगा अन्यथा विनाश का वह मार्ग जिस पर वह चल पड़ा है उसे कहीं का नहीं छोड़ेगा।

वेदों में पर्यावरण संरक्षण :—

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्धत प्रवत: समं बहु।
नाना वीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी न: प्रथतां राध्तां न:॥

अथर्व 12/2

वनस्पतियों से युक्त पृथ्वी ही कल्याण करने वाली है :

पृथ्वी के ऊंचे भाग, अर्थात् पर्वत समतल भाग और निम्न भाग नाना गुणों वाली औषधियों से परिपूर्ण हों। ऐसी नाना गुणों से युक्त वनस्पतियों से मण्डित पृथ्वी ही मनुष्य मात्र का कल्याण करने वाली होती है। जब पृथ्वी के उक्त तीनों भाग वनस्पतियों से नंगे हो जाते हैं तो पृथ्वी मनुष्य का कल्याण करने में असमर्थ हो जाती हे।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठाहिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रति भूमिरग्निमिद्रऋषभाद्रविणे नो दधातु ॥

अथर्व० 12/6

भूमि सम्पूर्ण सम्पदाओं की जननी है।

यह पृथ्वी समस्त विश्व का भरण पोषण करती है, यह सभी प्रकार के ऐश्वर्यों को धारण करती है, इस पृथ्वी की छाती में सभी स्वर्ण आदि धातुयें विद्यमान है, इसी में समस्त प्रकार की अग्नियां भी रहती है। यह धन एवं सभी को बल प्रदान करती है। अर्थात् ऐसी भूमि की हमें रक्षा करनी चाहिये।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यंते पृथिवीस्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणी विश्वरूपां ध्रुवां भूमि पृथिवीमिद्रगुप्ताम्
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ अथर्व० 12/11

पृथ्वी की रक्षा कर, वह तुम्हें दीर्घजीवी बनाएगी।

हे मानव ! भूरे रंग वाली, काले रंग वाली और लाल रंग वाली पृथ्वी क्रमशः भरण पोषण, कृषि योग्य और अत्यन्त उपजाऊ होती है एवं रमणीय पर्वतमालाओं एवं नाना प्रकार के वनों से परिपूर्ण रहती है। ऐसी भूमि मनुष्य को पूर्ण आयु प्रदान करती है एवं पूर्ण स्वस्थ रखती है।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवी विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि ॥

अथर्व० 12/27

नाना प्रकार के वृक्ष और वनस्पतियों से मण्डित पृथ्वी

जिस भूमि पर सदा बहुत बड़े और जंगल तथा नाना प्रकार की वनस्पतियां स्थिर

रूप में रहते हैं, जिसके पेड़ों को कभी भी नहीं काटा जाता है, वह पृथ्वी सभी की पालना एवं रक्षा करती है, हम उसको नमस्कार करते हैं।

यते भूमे विखनामि क्षिप्रेंतदपि रोह तु।
मा ते मर्म विमृंवरि मा ते हृदयमर्पिपम् ।।

अथर्व० 12/35

विना प्रयोजन के भूमि को न खोदें।

हे भूमि हम जिस तेरे भाग को खोदें, वह शीघ्र ही हरा-भरा हो जाये अर्थात् पौधों को इस तरह न काटें कि वह फिर से न उग सकें। लोहा, कोयला आदि पदार्थों के निमित्त हमें भूमि को खोदना पड़ता है परन्तु उसे सावधानी से खोदें। पृथ्वी अन्वेषण करने योग्य है परन्तु भूमि की रोहण शक्ति को हम नष्ट न करें। उसे व्यर्थ में न खोदें (अन्यथा इससे भूमि अपरदन होगा)।

शिलाभूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरे नमः ।।

अथर्व० 12/26

पृथ्वी के विभिन्न रूप

वह पृथ्वी शिला, पत्थर, धूल, मिट्टी आदि रूपों वाली है। इस भूमि के वक्ष स्थल में सोना, चांदी, लोहा, तांबा हीरे, जवाहरात एवं खनिज लवण आदि विद्यमान है। ये खनिज लवण पौधों की वृद्धि के लिये आवश्यक होते हैं। यह भूमि सबको धारण करने वाली है। हमें इसका सत्कार करना चाहिये।

पुराणों में पर्यावरण

1. अग्नि पुराणः यदि कोई व्यक्ति अपने वंश, धन और सुख में वृद्धि की इच्छा रखता है तो वह फल फूल वाले किसी वृक्ष को न काटें। जो व्यक्ति दस कुएं खुदवाता है, उसे एक तालाब खुदवाने का पुण्य मिलता है। जो दस तालाब खुदवाता है उसे एक झील खुदवाने का पुण्य मिलता है; १० झीलें बनाने वाला व्यक्ति एक देश उत्पन्न करने का पुण्य प्राप्त करता है। किन्तु १० देशभक्त उत्पन्न करने का पुण्य एक वृक्ष लगाने के पुण्य की अपेक्षा छोटा है।

2. मतस्य पुराणः एक वृक्ष का आरोपण 10 पुत्रों के बराबर है।

३. वराह पुराण: 'पंचाम्रवापी नरकं न याति' अर्थात् आम के पांच पौधे लगाने वाला व्यक्ति कभी नरक नहीं जाता है ।

४. विष्णु धर्म सूत्र-एक मनुष्य द्वारा पालित पोषित वृक्ष का महत्व एक पुत्र के समान है । देवगण इसके पुष्पों से, यात्री इसकी छाया में बैठकर, मनुष्य इसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं ।

५. पद्म पुराण: जो मनुष्य सड़क के किनारे छायादार वृक्ष लगाता है वो स्वर्ग में उतने ही समय तक सुख भोगता है जितने समय तक वह वृक्ष फ़लता-फूलता रहता है ।

क्या आप यह जानते हैं ?

I. भारत का कुल थल क्षेत्र ३२५ मिलीयन हैक्टेयर है । इसका प्रायः आधा क्षेत्र अर्थात् १५० मिलीयन हेक्टेयर, जल एवं वायु अपरदन लवणता, क्षारता जल प्लावन आदि के कारण अपकर्ष की विभिन्न स्थितियों में है ।

अतः कोई आश्चर्य नहीं कि देश की आधी से अधिक जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे है ।

II. १३० मिलीयन टन खाद्यान पैदा करने में भूमि से लगभग १८ मिलीयन टन खनिज लवण (पोषक तत्त्व) लिये जाते हैं ।

उर्वरक और जैव स्रोतों द्वारा भूमि को १०.३ मिलीयन टन खनिज लवण (पोषक तत्व) दिये जाते हैं ।

इस प्रकार भूमि बैंक को ६-७ मिलियन टन खनिज लवण का घाटा रहता है । क्या इस प्रकार ओवर ड्राफ्ट से कोई भी बैंक दिवालिया नहीं हो जाएगा ? साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि 'अपरदन द्वारा भूमि प्रतिवर्ष ८.४ मिलियन टन पोषक तत्व खो रही है ।

III. भारत की ४० मिलीयन हेक्टेयर भूमि बाढ़ से पीड़ित है । गंगा क्षेत्र में प्रति वर्ष ८ मिलियन हेक्टेयर भूमि में बाढ़ आती है जिससे २५० करोड़ रुपये की वार्षिक हानि होती है ।

क. १९८२ से पूर्व बाढ़ ग्रस्त क्षेत्र २५ मिलियन हेक्टेयर था जो आज बढ़कर ४० मिलीयन हेक्टेयर हो गया ।

ख. १९५२ से देश में जिन बांधों का निर्माण हुआ है उनके लिए ४ लाख हेक्टेयर भूमि से वनों को समाप्त करना पड़ा।

क्या 'क' और 'ख' में कोई संबंध है ?

बाढ़ ग्रस्त क्षेत्र की वृद्धि के निम्नलिखित मुख्य कारण है।

१- जंगलों का बेहिसाब कटान २- भूमि पर उगी वनस्पतियों का विनाश

२- भूमि संरक्षण की कमी।

समस्या का समाधान—

१- वृक्षारोपण।

२- भूमि की जल शोषण क्षमता में वृद्धि करना।

३- भूमि पर वनस्पतियों का घना आवरण बनाये रखना।

४- सीमित चारण (चरायी)

एक अनुमान के अनुसार एक औसत आकार के वृक्ष (भार पचास टन) से ५० वर्ष में हमको निम्नलिखित लाभ प्राप्त होता है :—

आक्सीजन का उत्पादन १००० किलो	राशि रु० में—
१. प्रतिवर्ष के हिसाब से ५० वर्षों में	२,५०,०००/-
२. वायु प्रदूषण पर नियंत्रण	५,००,०००/-
३. भू-क्षरण की रोकथाम, भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाना	२,५०,०००/-
४ जल का पुनर्चक्रीकरण व पर आद्रता नियंत्रण	३,००,०००/-
५. पशु, पक्षियों का आवास	२,५०,०००/-
६. प्रोटीन एवं वसा निर्माण	२०,०००/-
	१५,७०,०००/-

— ० —

जर्मन ब्राह्मणों के बीच

ले० माननीय बलभद्र कुमार हूजा

कुलपति

हैम्बर्ग के डाक्टर जोगेन्द्र मल्होत्रा के सौजन्य से लूनीवर्ग की ईस्ट एकेडमी में चल रहे सेमिनार में बरमिंघम के तेरहवें कामनवैल्थ विश्वविद्यालय सम्मेलन के निष्कर्षों एवं तीसरी दुनिया की शिक्षा समस्याओं पर मुझे अध्यापकों की संगोष्ठी में चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ।

मैंने उन्हें बतलाया कि इंग्लैंड, कैनेडा, आस्ट्रेलिया आदि में आज कार्यरत सज्जनों के ज्ञान और कौशल को अप-टू-डेट करने की समस्या है। विज्ञान और तकनीकी विद्या जिस गति से वृद्धि कर रहे हैं, कार्यरत लोगों को अपनी नौकरियां सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह अपने कौशल को निरन्तर बढ़ाते रहें। वरना वह पिछड़ जाते हैं। इसलिये इन देशों में एक ओर तो ज्ञान विस्तार हेतु नवीन श्रव्य-दृश्य साधनों का प्रयोग किया जा रहा है। दूसरी ओर छोटे-छोटे कोर्स चलाये जा रहे हैं, ताकि जिज्ञासु लोग यथासम्भव अपनी ज्ञानवृद्धि करते रहें। इंग्लैंड में तो अब पुनः दो वर्ष के डिग्री कोर्स जारी करने की बात चल रही है, क्योंकि डिग्री की उपादेयता अब केवल इस बात में है कि ज्ञान भण्डार से ज्ञान अथवा जानकारी कैसे उपलब्ध की जाये, न कि ज्ञान कण्ठस्थ कराने में।

कम्प्यूटर क्रान्ति ने शिक्षा और ज्ञान के मानदण्डों को ही बदल दिया है।

इसके विपरीत हमारे देश में अभी तक निरक्षरता और अज्ञान की समस्या गम्भीर रूप में उपस्थित है। साक्षरता लाने-लाने में तो हमें वर्षों लग जायेंगे। किन्तु अब श्रव्य-दृश्य साधनों में असाधारण क्रान्ति होने से तथा सैटेलाइट के आ जाने से जनसाधारण में ज्ञान का विस्तार करने हेतु सा-क्षरता पर निर्भर रहना अनावश्यक और पौराणिक सा हो गया है। हां हमें इन द्रुत और कीमती साधनों का उपयोग करने हेतु उच्चकोटि की शिक्षा सामग्री तैयार करनी होगी और इस दिशा में भारतीय विश्व-विद्यालय एक महान भूमिका निभा सकते हैं।

मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि आक्सब्रिज माडल से असंतुष्ट होकर स्वामी दयानन्द से अनुप्रेरित होते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने १६०० में गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय की स्थापना की थी। वैदिक वांगमय की शिक्षा के साथ-साथ उनका अभिप्राय आधुनिक विज्ञान से भी स्नातकों को पूर्णतः अवगत कराने का था—और इसमें उन्हें यथेष्ठ सफलता भी प्राप्त हुई।

हां, साधारण विश्वविद्यालय अभी तक अनुसन्धान और शिक्षा के क्षेत्र में ही दत्तचित रहे हैं। विस्तार के क्षेत्र की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इस ओर सर्वप्रथम भारत के कृषि विश्वविद्यालयों का ध्यान गया और हाल में भारत में जो हरित-क्रांति हुई है उसमें प्रवृत्ति एक प्रमुख अंग बनकर सामने आई। कृषि स्नातकों ने भारत की कृषि विस्तार सेवाओं के असंख्य कर्मचारियों को नेतृत्व देकर कृषि अनुसंधान की उपलब्धियों को खेतीहर किसानों तक पहुंचाया और आज भारत का सजग कृषक समुदाय अपनी उन्नत खेती पर गर्व कर सकता है।

इसी प्रकार अब साधारण विश्वविद्यालय भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रबल नेतृत्व में अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार जनसाधारण में ज्ञान प्रसार करने हेतु कृतसंकल्प हो रहे हैं। इसी से "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की सूक्ति यथार्थ हो पायेगी।

मैंने उन्हें गंगा योजना और हिमालय योजना के बारे में भी बतलाया।

गोष्ठी में मुझसे पैने प्रश्न पूछे गये। एक अध्यापक ने पूछा कि आपका देश इतना गरीब है, फिर आप अणु बम पर करोड़ों रूपया क्यों खर्च करते हैं। मैंने कहा कि सर्वप्रथम हम स्वावलंबी बनना चाहते हैं। क्यों न हमारे वैज्ञानिक इस दौड़ में भी विश्व के वैज्ञानिकों के साथ कंधा मिलाकर चलें ? दूसरे, हमारे आणविक प्रयोग शान्ति के लिये हैं न कि युद्ध के लिये। तीसरे, इनसे हमें उर्जा उपलब्ध होगी। इसके साथ-साथ ही हम अपने स्पेस अनुसंधान के कार्यक्रम को भी बढ़ावा दे रहे हैं। इससे हम सस्ते में करोड़ों अशिक्षित लोगों तक ज्ञान ज्योति फैला सकेंगे। वातावरण के संबंध में हमें जो ज्ञान उपलब्ध होगा वह कृषकों तक पहुंचाकर उनका मार्ग दर्शन कर सकेंगे। हमारी पंचवर्षीय योजनायें भी अधिक वास्तविक बनेंगी, इत्यादि।

एक प्रश्न के उत्तर मैंने उन्हें बतलाया कि गुरुकुल का लक्ष्य तो सर्वांगीण शिक्षा देना है न कि केवल तीन विषय पढ़ाकर स्नातक की डिग्री प्रदान करना। हमारे ब्रह्मचारी १७-१८ वर्ष गुरु के गर्भस्थ रहकर वेद-वेदांग के अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रों अथवा उपवेदों का ज्ञान प्राप्त करें, ऐसा हमारा लक्ष्य है। स्वामी दयानन्द द्वारा

प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थ वेद सिखलाने का भी प्रावधान है। एक अध्यापक को सर्वांगीण शिक्षा का यह लक्ष्य बहुत पसन्द आया और कहने लगा कि विश्वविद्यालय को डिग्री प्राप्त युवक निर्माण करने की बजाय सर्वकला सम्पूर्ण युवक तैयार करने चाहिएं, तभी गुरु सही अर्थ में गुरु कहलाने योग्य होंगे और गुरुकुल सार्थक होंगे।

भारत के विरुद्ध कितना मिथ्या प्रचार हो रहा है, इससे स्पष्ट हुआ जब एक अध्यापक ने पूछा कि भारत में अभी भी अकाल से जनसाधारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ऐसा चीन में नहीं होता, उसने कहा। मैंने उत्तर दिया कि चीन का तो कोई क्या जाने। चीन में खुला आवागमन नहीं है किंतु भारत तो एक खुली किताब है। आईये, और स्वयं देखिये। सन् १९५० के मुकाबले में हमारे यहां अब ३.५ करोड़ टन की बजाय १३ करोड़ टन अन्न पैदा हो रहा है। अतः हर राज्य में अन्न के भण्डार स्थापित हो चुके हैं और रेल और यातायात के साधन इतने अच्छे हैं कि जब कभी वर्षा के अभाव के कारण कहीं सूखा पड़ता है तो फौरन वहीं अनाज पहुंचा दिया जाता है। अपौष्टिक अथवा असंतुलित आहार की बात हो सकती है, लेकिन अनाज के अभाव में किसी की मृत्यु होना अब भूतकाल की कहानी हो गयी है।

"आप पड़ोसियों को डराते बहुत हैं" एक ने पूछा। मैंने कहा डराने की बात भी प्रोपोगैण्डा मात्र ही है। हम तो दक्षिण एशिया में शान्ति और परस्पर सहयोग चाहते हैं। डराते तो वह हैं जो भारत महासागर में आणविक अड्डे बना रहे हैं और युद्ध का सामग्री तैयार करने पर अरबों रूपया खर्च कर रहे हैं। जैसा कि बरमिंघम में राष्ट्र-मण्डल विश्वविद्यालय सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए ....श्री रामफल, सैक्रेट्री जनरल, राष्ट्रमण्डल, ने कहा था, इस धनराशि से करोड़ों वंचित लोगों की स्वास्थ्य की, पेयजल की, शिक्षा की, पर्यादूषण की समस्याएं हल हो सकती हैं। लेकिन पश्चिमी राष्ट्रों में तो आयुद्ध निर्माण की होड़ लगी है। पश्चिमी देश अपनी सुरक्षा हेतु आयुध निर्माण करें, सो करें, लेकिन वह तो तीसरे विश्व के देशों में आयुध बेचते हैं और एक देश में दूसरे देश के प्रति भय और आशंका पैदा करते हैं, जिससे उनके आयुध निर्माण के कारखाने चलते रहें। इससे विश्व में विस्फोटक स्थिति तो पैदा होती है, साथ में अरबों रूपया निर्माण कार्यों की बजाय विध्वंसक कार्यों में नष्ट होता है।

जर्मनी में नाटो के लिये अस्त्रों के बेस बनाने से काफी खलबली है, ऐसा प्रतीत हुआ। प्रबुद्ध जर्मन विचारक अपने आपको इस विषय में असहाय सा पाते हैं। वह कहते हैं, ऐसे बेस जर्मनी की बजाय अमरीका में क्यों नहीं बनाये जाते हैं। अतः यहां भी विश्व शान्ति आन्दोलन दबी-दबी आवाज में सही, पनपता नजर आता है।

जर्मन लोगों ने गत महायुद्ध में बहुत बरबादी देखी । नगरों के नगर तबाह हुए । जानो-माल का अनगिनत नुकसान हुआ । वह इस नाटक को दोहराना नहीं चाहते । लेकिन क्या करें ? आज उनकी स्थिति दयनीय नजर आती है ।

उन्होंने गत ३० वर्षों में अपने देश को पुनः आर्थिक उन्नति के शिखर पर ला खड़ा किया है, यह निर्विवाद है । इसमें बाहरी सहायता के अलावा जर्मन कला-कौशल को भी श्रेय देना होगा । जर्मन लोग मेहनती हैं, पुरुषार्थी हैं, ज्ञानी हैं, कलाकौशल में सिद्धहस्त हैं । यहां ज्ञान और कर्म का यथेष्ठ मेल है । इस लिये जर्मनी आज पुनः विश्व के समृद्ध देशों में गिना जाता है । लेकिन मानवता का यहां भी ह्रास होता जा रहा है ।

साधारण जर्मन भयभीत है, और साथ में यहां प्रतियोगिता की होड़ इतनी बढ़ती जा रही है कि मानव मानव भक्षी बनता जा रहा है । हरेक व्यक्ति अपनी दौड़ में व्यस्त है । पड़ोसी, साथी सहयोगी के लिये किसी के पास समय नहीं है । अभी भी विदेशियों को यह लोग अनादर की दृष्टि से देखते हैं । उनके लिये उन्नति के स्थान अवरूद्ध हैं ।

यही स्थिति इंगलैंड में भी दृष्टिगत हुई । हां, आयरलैंड में भारतीयों के प्रति श्रद्धा है ।

ऐटनबरो की गांधी फिल्म की चर्चा होनी ही थी । लोगों की समझ से बाहर है कि अहिंसा से हिंसा पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है । गांधी एक अजीबोगरीब व्यक्तितत्व का मालिक था अवश्य, पर उसकी प्रणाली उसका दर्शन व्यावहारिक हो, ऐसा नहीं समझा जाता । यहूदियों को उसने शान्ति पूर्वक असहयोग और सत्याग्रह का मंत्र दिया था, परन्तु जैसी स्थिति तब थी, उससे यह मंत्र कोरा कागजी पत्र ही सिद्ध होता, और हुआ भी ऐसा, यह उनका मंतव्य था ।

हिटलर का नाम लेने से यह लोग संकोच करते हैं । तीसरी राइख की ज्यादतियों की याद कड़वी है । मैंने जब हिटलर द्वारा प्रतिपादित आर्यजाति और स्वस्तिका का जिक्र किया तो यह लोग चौंके । मैंने जब भारत के स्वाधीनता संग्राम में दोनों विश्व महायुद्धों में जर्मन सहायता का वर्णन किया तो यह लोग चकित हुए । हां, साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर भारतीय साहित्य के क्षेत्र में उनके अनुसंधान के प्रयत्नों का इन्होंने स्वागत किया ।

इस दिशा में भारतीय और जर्मन बुद्धिजीवी मिलकर अनुसंधान करें तो बहुत से अन्य तथ्य उभरकर सामने आएंगे और भारत और जर्मनी के मध्य एक सेतु स्थापित हो पायेगा जो दोनों के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

इसी विषय को लेकर भारत की विदुषी कौंसिल जनरल श्रीमती कुमार से भी लम्बी-चौड़ी बात हुई। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के कार्यक्रम में दिलचस्पी प्रकट की और चाहा कि मैं उन्हें इस संबंध में पूर्ण सामग्री भेजूं ताकि वह यहां के बुद्धिजीवियों के साथ विस्तार से विचार-विमर्श कर सकें।

लन्दन में स्कूल आफ ओरियेंटल और अफ्रीकन स्टडीज के डायरेक्टर प्रो० कोवन ने बताया था कि अब वहां संस्कृत में दिलचस्पी कम हो गयी है। कारण कि इससे किसी को रोजी कमाने में कोई लाभ नहीं। हाई कमीशन के शिक्षा अधिकारी श्री मुखर्जी ने बताया कि वहां आयुर्वेद में जरूर दिलचस्पी है और यदि हम लंदन में संस्कृत के प्रति रूचि पैदा करना चाहते हैं तो लंदन विश्वविद्यालय में आयुर्वेद की चेअर प्रतिष्ठित करनी चाहिए। उसके द्वारा संस्कृत में पुनः रूचि जागृत की जा सकती है। अभी भारत सरकार स्कूल आफ ओरियेंटल स्टडीज को केवल ७५० पौंड वार्षिक अनुदान देती है जो कुछ भी न देने के बराबर है। कम से कम १२,००० पौंड तो देना ही चाहिए, जो एक लेक्चरार का वेतन है। इसी प्रकार दोनों देशों के मध्य विद्वान् प्रोफैसरों के आवागमन की व्यवस्था करनी चाहिए।

यह जानकर मुझे अचम्भा नहीं हुआ कि बहुत से जर्मन और अंग्रेज अध्यापकों ने वेदों का नाम तक नहीं सुना। स्वामी दयानन्द की बात तो दूर रही। जब मैंने उन्हें बताया कि दयानन्द मार्टिन लूथर की तरह सुधारक था और आर्य समाज का आन्दोलन प्रोटोस्टेंट के आंदोलन की तरह सुधार आंदोलन है तो उनकी जिज्ञासा कुछ जगी। जब मैंने उन्हें बताया कि दयानन्द कर्ल मार्क्स का समकालीन था और यह कि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक मार्ग साम्यवाद और पूंजीवाद के मध्य का मार्ग है जिसमें व्यक्ति के सम्मान और समाज के हित दोनों की सुरक्षा की व्यवस्था है तो उनकी जिज्ञासा और तीव्र हुई।

स्पष्ट है कि वेद का संदेश विश्व में फैलाने के लिए वेद के भण्डाधिकारियों को अभी बहुत तपस्या और तैयारी करनी है। सर्वप्रथम तो वेद के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद करने हैं, फिर वेद के दूत विभिन्न देशों में भेजने हैं। तभी जाकर कहीं वेद प्रचार होगा।

इस विषय पर मेरी नैरोबी के प्रतिष्ठित आर्य नेता पण्डित सत्यदेव जी और आर्य समाज लंदन के प्रधान प्रोफैसर भारद्वाज से भी बातचीत हुई। यह दोनों भी इसी विचार के हैं। प्रो० भारद्वाज मेरे साथ लन्दन ओरियेंटल स्कूल भी गए और वह इस संबध में बातचीत का सिलसिला जारी रखेंगे।

अन्त में यह उल्लेख करना चाहूँगा कि जिस मौहल्ले में प्रो० मल्होत्रा रहते हैं वहां के चर्च के लिए मौहल्ला वासियों को जबरन टैक्स देना पड़ता है। श्रीमती रूथ मल्होत्रा जर्मन ईसाई विदुषी हैं। वह इस चर्च की सदस्या हैं और उन्हें प्रतिमास अपनी आर्य का २.५% कर के रूप में इस चर्च को देना पड़ता है। इसी आय से चर्च का कारोबार चलता है और चर्च अपनी विचारधारा प्रसारित करने में सफल होता है।

यहां यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि ब्रेसेल्ज में जिस होटल में हमें योरूपीयन टूर के दौरान ठहराया गया था वहां बाईबिल के उद्धरणों को लेकर चार भाषाओं में प्रकाशित एक ग्रंथ पड़ा हुआ था। उस पर लिखा हुआ - यह प्रति आपकी है, ले जाईये। हां, अमुक संस्था को इसके लिये ३ डालर भेज दीजिये।

क्या गुरुकुल कांगड़ी का आर्य समाज भी इस प्रकार का कार्य हाथ में ले सकता है ? जब ऐसा हो सकेगा तभी हम ऋषि के ऋण से उऋण होंगे।

निरन्तर-शिक्षा

ले०—माननीय बलभद्र कुमार हूजा,
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

निरसन्देह शिक्षा क्रम आयु पर्यन्त चलता रहता है। जो विचारक पुर्नजन्म में विश्वास रखते हैं उनके अनुसार तो यह क्रम जन्मजन्मान्तर तक चलता रहता है।

योरोपीय विचारकों का ध्यान इन दिनों जोर-शोर से इस प्रक्रिया की ओर आकृष्ट हुआ है। यह सिद्धान्त कि शिक्षा विश्वविद्यायय की उपाधि प्राप्त करने के बाद समाप्त हो जाती है अब निरस्त हो चुका है। कहा जाता है कि हर दशक में ज्ञान का विस्तार दुगुना हो जाता है। दूसरे शब्दों में जो स्नातक आज यह समझ कर चलता है कि वह सर्वज्ञानी है, तीस बरस का होते-होते अर्द्ध ज्ञानी हो जायेगा, ४० बरस का होते-होते चौथाई ज्ञानी रह जायेगा और ५० वर्ष की आयु में एक आठवां तथा इस प्रकार क्रमशः उसका ज्ञान कम होता जायेगा।

ज्ञान-विज्ञान में जो निरन्तर परिवर्धन होता जा रहा है, उसमें अप-टू-डेट रहना तो अब कठिन हो गया है। हां, ज्ञान विज्ञान के रहस्यों को किस प्रकार खोजा जाये और जो सूचना अथवा ज्ञान किसी भी समय किसी को चाहिए उसको कहां से, कैसे प्राप्त किया जाये, इसको भी समझने के लिये निरन्तर प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

आज कम्पयूटर के युग में साधारण पढ़ने लिखने की भाषा भी लुप्त होती जा रही है। कम्प्यूटर की अपनी भाषा है और तकनीकी तौर पर उन्नत देशों में आज का विद्यार्थी समुदाय और शिशु समुदाय उसके प्रयोग से शिक्षा ग्रहण कर रहा है।

स्वास्थ्य हो, इंजीनियरिंग हो, व्यापार हो, सभी क्षेत्रों में अबाध गति से ज्ञान परिवर्धन हो रहा है। जो व्यवसायी अपने-अपने पेशे में अप-टू-डेट रहना चाहते हैं, वह ज्ञान परिवर्धन के मौके खोजने में सजग रहते हैं। यह महसूस किया जा रहा है कि विश्व-विद्यालय इस दिशा में सार्थक सिद्ध हो सकते हैं। **विश्वविद्यालय विद्या और ज्ञान के भण्डार हैं**। वह नये-नये लम्बे-छोटे भिन्न अवधियों के

कोर्स चलाकर जिज्ञासु लोगों की ज्ञान पिपासा शान्त कर सकते हैं।

उन्नत देशों में ज्ञान के प्रसार और प्रवाह हेतु तरह-तरह के उपकरण तैयार हो चुके हैं और उनमें निरन्तर सुधार जारी हैं। अब विषय विशेष की सीमायें भी नष्ट प्रायः हो चुकी हैं। विभिन्न विषयों के परस्पर मेल से ही विश्व के रहस्य उद्घाटित होते हैं। यह सिद्धांत अब सर्व मान्य हो चुका है।

भारत के ऋषि-मुनि भी इसी विचारधारा के थे। आजकल यहां आक्सब्रिज माडल के अनुकरण में ३ विषयों को लेकर ही डिग्री प्रदान की जाती है। लेकिन जिस भारतीय शिक्षा विधि का ऋषि दयानन्द ने प्रतिपादन किया, उसके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में, गुरुकुल में रहते हुए निरन्तर १६-१७ वर्ष तक ब्रह्मचारी को २०-२५ से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना होता था। वेद वेदांग के अतिरिक्त उसे आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थ वेद का ज्ञान प्राप्त करना होता था। फिर इतिहास, भूगोल, अंकगणित, बीजगणित, खगोल शास्त्र, ज्योतिष विद्या ऐसे अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना होता था जिससे कि एक ब्रह्मचारी विभिन्न विषयों में अभ्यस्त होकर निकलता था। इस के साथ ही उसके गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार यह भी निश्चित किया जाता था कि उसने किस वर्ण में प्रवेश करना है, अर्थात् उसने ब्राह्मण का, क्षत्रिय का, वैश्य का अथवा कोई अन्य पेशा अपनाना है। फिर उसे तदनुसार यथायोग्य विषयों में पारंगत किया जाता था।

वैदिक काल में शिक्षा यहीं समाप्त नहीं हो जाती थी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थों को समय-समय पर विभिन्न पर्व, यज्ञ और संस्कार रचाने होते थे। प्रत्येक पर्व, यज्ञ और संस्कार भी निरन्तर शिक्षा का प्रबल साधन होता था। इन अवसरों पर गृहस्थ को उसके सामाजिक, पारिवारिक तथा राष्ट्रीय पर्वों-कर्तव्यों का बोध कराया जाता था जिससे कि वह सत्पथ पर आरूढ़ होकर जीवनयापन करे। तत्पश्चात् वान-प्रस्थाश्रम तो विशेषतः अध्ययन, अध्यापन, मनन, चिन्तन के लिये सुनिश्चित था ही।

आज भी ज्ञान-विज्ञान के विस्तार के इस युग में प्रबुद्ध शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु अब जगह बजगह खुले विश्वविद्यालय खोले जा रहे हैं। जिनमें प्रौढ़ अवस्था के लोगों को ज्ञान परिवर्धन के अवसर उपलब्ध होते हैं। इनमें विशेषकर तीन कार्यक्रमों पर ध्यान दिया जाता है।

१- चेतना वर्धन।
२- तकनीकी ज्ञान का हस्तान्तरण।
३- विशेषज्ञों को अप-टू-डेट करना।

इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय अधोलिखित तीन अन्य कार्य भी हाथ में ले सकते हैं ऐसा विद्वानों का मत है।

१- विकास नीति का दिग्दर्शन।
२- अनुसन्धान और विकास के कार्यक्रम
३- सलाह, मशवरा, सम्मति प्रदान।

स्पष्टतः यह तीनों कार्य एक दूसरे से मिले-जुले हैं। इनको हाथ में लेकर विश्वविद्यालय समाज के विभिन्न क्षेत्रों के लिये कौन सी तकनीक उपयुक्त है, इस बारे में समुचित निर्देशन देने में समर्थ होंगे। विश्वविद्यालयों के लिये यह भी आवश्यक है कि वह विभिन्न दिशाओं में अपने प्रयोगों का उल्लेख करें ताकि उन क्षेत्रों के कार्य कर रहे अन्य कार्यकर्त्ता उनके प्रयोगों से लाभान्वित हो सकें। सफलताओं असफ़लताओं का समुचित विश्लेषण हो जिससे ज्ञान धारा अग्रसारित होकर राष्ट्र कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

राष्ट्र के समक्ष आज क्या समस्याएं हैं? अगले २० वर्षों में क्या–क्या समस्यायें आने वाली हैं? उनका निराकरण कैसे होगा? विश्वविद्यालयों का यह मुख्य कर्त्तव्य हो जाता है कि उन पर विचार करें। उनके समाधान ढूंढ़ें। आखिर विश्वविद्यालयों में ही विचारक ब्राह्मणों का निवास है। वहीं ब्रह्म विद्या के ज्ञाता रहते हैं। वहां से राष्ट्र की, विश्व की समस्याओं का हल नहीं निकलेगा तो कहां से निकलेगा? इस पवित्र कर्तव्य से विद्या के भण्डारों के भण्डारी विमुख नहीं हो सकते। यह उनका परम कर्तव्य-धर्म है।

यह धारणा कि विश्वविद्यालय का काम केवल डिग्री प्रदान करना है, मूलतः निरस्त हो जानी चाहिए। उपाधि प्रदान तो शिक्षा की प्रक्रिया में एक चरणमात्र है। शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थी में स्वाध्याय को निरन्तर शिक्षा की जिज्ञासा उत्पन्न करना होना चाहिए। तभी तो वैदिक शिक्षा प्रणाली में समावर्तन के समय गुरु शिष्य को उपदेश देता था कि स्वाध्याय से कभी जी मत चुराना और सर्वदा दान देना अर्थात् आज के सन्दर्भ में करों की चोरी न करना, क्योंकि दान अर्थात् कर से ही तो शिक्षालय विद्यालय गुरुकुल चलते हैं। केवल आदर्शवाद से गाड़ी कहां तक खिंचेगी? हर संस्था

के संचालन के लिये हर कार्यक्रम के बढ़ाने के लिये द्रव्य और साधनों की आवश्यकता होती है। व्यवहार कुशल प्रशासक इस दिशा में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। हां, यह भी आवश्यक है कि प्राप्त द्रव्य का प्रयोग ठीक प्रकार से हो। उसके व्यय में धांधली न हो। इस हेतु आडिट की, जवाब तलबी की, निश्चित समय पर आय-व्यय का हिसाब किताब प्रस्तुत करने की, आक्षेपों के उत्तर देने की व्यवस्था सभी प्रजातांत्रिक संस्थाओं, समाजों में होती है, ताकि कोई भी प्रशासक अथवा राजा निरंकुश होकर मनमानी न करने पाये।

निरन्तर शिक्षा के साधन

प्रश्न उठता है कि निरन्तर शिक्षा के साधन क्या हों? भारत में इस विषय पर बहुत प्रयोग हो चुके हैं। अपठित लोगों के लिये रेडियो वरदान सिद्ध हुआ है। अब दूरदर्शन और उपग्रह भी उपस्थित हो गये हैं। अलबत्ता आवश्यकता इस बात की है कि इनके प्रोग्राम समस्या पूर्ति से जुड़े हुए हों।

बहुत दिन हुए राजस्थान के गंगानगर जिले में दौरा करता हुआ मैं एक ग्राम में पहुंचा। एक स्थाननीय कृषक से बातचीत हुई। उसकी खेती बहुत समुन्नत थी। मैंने पूछा कि उसने प्रशिक्षण कहां से प्राप्त किया। कहने लगा, रेडियो से। मैंने फिर पूछा, रेडियों वालों के लिये कोई संदेश देना चाहोगे। बोला, उनसे कहिए जनवरी, फरवरी मार्च का उल्लेख न करके चैत्र, बैशाख, ज्येष्ठ की बात किया करें तो हमें अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। संदेश स्पष्ट है, जिस व्यक्ति का प्रशिक्षण अभीष्ट है, उसी की मातृभाषा में बातचीत, प्रोग्रोम हों तो अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

अब तो विडियो, टेपरिकार्डर, कैसेट भी उपलब्ध हैं। केवल इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उनके द्वारा दिये गये प्रोग्राम सात्विक हों।

यही सिनेमा के संबंध में भी कहना चाहिए। उपग्रह के आ जाने से अब दूर से बैठे व्यक्ति तक पहुंचा जा सकता है।

विश्वविद्यालयों के पास ज्ञान के भण्डार हैं। अतः आधुनिक युग में उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह जिसे साफ्ट वेयर अथवा प्रोग्राम कहते हैं, तैयार करें। इसके लिये निरन्तर मेहनत करनी होगी। सैकड़ों घंटे काम करना होगा। रिहर्सलें करनी होंगी। तब कहीं जाकर अच्छे दर्शनीय प्रोग्राम तैयार होंगे। राष्ट्रीय टी०वी० पर वीडियो पर अधकचरे प्रोग्राम नहीं चलेंगे।

प्रोग्राम बनाने के अतिरिक्त, विश्वविद्यालय अपनी क्षमता के अनुसार अपनी विस्तार सेवायें भी जनसाधारण के हित के लिये समर्पित कर सकते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों द्वारा अपने ज्ञान का प्रकाश चहूँ ओर फैला सकते हैं। ये कुछ दिशाएं जिन में अध्यापक वर्ग, गुरुजन अर्थात् ब्राह्मण उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

आर्य समाज का एक नियम यह है कि आर्य सभासद् को केवल अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। समाज की उन्नति के लिये निरन्तर सेचेष्ट रहना चाहिए।
इस प्रयास में विश्वविद्यालय छोटे-छोटे कोर्स भी चला सकते हैं।

अध्यापकों को सप्तवर्षीय अवकाश भी प्रदान किये जा सकते हैं। जिनसे वह जहां-तहां जाकर अपने मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षितिज विस्तृत कर सकें और पुनः अपने विश्वविद्यालय में आकर अधिक उपयोगी सिद्ध हों।

राष्ट्र के राजनैतिक नेताओं, अफसरों, कर्मचारियों, कारखानेदारों, किसानों, मजदूरों के पास अपार शक्ति है। आवश्यकया है दिशा निर्देशन की। ध्रुव मार्ग दिखलाने की - यह है कार्य आज के युग में विश्वविद्यालयों का, क्योंकि वैदिक परिभाषा में वही आजकल के गुरुकुल हैं।

तेहरवाँ राष्ट्रमंडल विश्वविद्यालय सम्मेलन बरमिंघम - I

ले० माननीय बलभद्र कुमार हूजा,
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मैं और राजकोट विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर दवे ग्यारह अगस्त की शाम को ६ बजे बरमिंघम न्यू स्ट्रीट स्टेशन पर पहुंचे। विश्वविद्यालय का लाल कुर्ती वाला एक स्वयं सेवक स्टेशन पर उपस्थित था। उसने हमें हाई - हाल छात्रावास की टैक्सी कर दी।

हाई हाल पर तो कितने ही लाल कुर्ती वाले स्वयं सेवक उपस्थित थे। रजिस्ट्रेशन कार्ड दिखलाने पर फौरन कमरे की चाबी ले आये। हमारा सामान अपने-अपने कमरे में पहुँचा दिया गया।

मुझे १२वीं मंजिल पर १२१२ नम्बर का कमरा मिला। मेरे साथ ही तमिल विश्वविद्यालय के प्रो० सुब्रह्मण्यम् ठहरे हुए थे। तत्काल ही चांसलर - सर पीटर स्काट की ओर से रिज हाल में रिसैप्सन था। फौरन तैयार होकर वहां पहुँचे। बहुत से भारतीय डैलीगेट आए हुए थे। सब से मुलाकात हुई।

१२-१३ अगस्त को विश्वविद्यालय कैम्पस में कुलपतियों का सम्मेलन था। लीवर ह्यूम रिपोर्ट पर बहस हुई। इंग्लैण्ड में लीवर ह्यूम एक विख्यात ट्रस्ट है। इन्होंने इंग्लैण्ड की शिक्षा संबंधी समस्याओं की जांच हेतु एक समिति नियुक्त की थी। उसी समिति की यह रिपोर्ट कुलपतियों के सम्मुख विचार हेतु प्रस्तुत हुई। लीवर ह्यूम रिपोर्ट में अब ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों को फिर से दो वर्ष का डिग्री कोर्स अपनाने के लिये प्रेरित किया गया है। हमारे यहां तो कई विश्वविद्यालयों ने १२+३ की प्रणाली स्वीकार कर ली है। कई अभी भी १२+२ के कोर्स पर कायम हैं। उत्तर प्रदेश में भी अभी १२+२ ही चल रहा है।

मुझे याद है १९६३ में जब दिल्ली कुलपति सम्मेलन से १२+३ का प्रस्ताव

उपस्थित हुआ था तो कई कुलपतियों ने कहा था कि हम सभी १२+२+२ की उपज हैं। १२+३+२ की ऐसी क्या उपयोगिता होगी, समझ से बाहर है। अब फिर इस विषय पर बरमिंघम में संवाद हुआ तो कईयों ने ठीक ही कहा : १२+२ हो अथवा १२+३ हो, यह निरर्थक है - देखना यह है कि २ वर्ष अथवा ३ वर्ष की अवधि में विद्यार्थी कितना अध्ययन करता है। कितने दिन पठनन्पाठन होता है। यदि ३ वर्षों में ६–६ मास विश्वविद्यालय बन्द रहे तो ३ वर्ष का लाभ क्या हुआ ? यदि २ वर्ष में विद्यार्थी २००-२५० दिन काम करे तो अधिक लाभ होगा।

इस संदर्भ में कनाडा का प्रयोग भी प्रस्तुत हुआ। वहां ३ वर्ष की पाबन्दी इस प्रकार है कि १२ के बाद ३ वर्ष से कम में डिग्री नहीं मिलती। डिग्री लेने के लिए १५ क्रेडिट कोर्स करने पढ़ते हैं। प्रतिवर्ष ५ से ज्यादा क्रेडिट कोंस कोई नहीं ले सकता - हां, कम चाहे लेले। जब कोई विद्यार्थी १५ क्रेडिट कर लेता है - चाहे ३ वर्ष में करे - ५ वर्ष में करे अथवा अधिक समय में - वह रजिस्ट्रार को लिखकर उपाधि प्राप्त कर सकता है। परिणाम स्वरूप विद्यार्थी अपनी सुविधानुसार पठन-पाठन करते हैं। हर क्रेडिट कोर्स की जुदा-जुदा फीस होती है जो उसे चूकानी पढ़ती है। इसलिये विद्यार्थी क्रेडिट कोर्स लेकर तन्मयता से काम करता है क्योंकि उसने उसकी फीस दी होती है। वह चाहता है कि उससे पूरा लाभ उठाये। गुरुजन भी जिम्मेवारी से काम करते हैं क्योंकि उन्होंने कोर्स के लिए फीस चार्ज की होती है और उनका कर्तव्य हो जाता है कि अपनी जिम्मेवारी निभायें। इस प्रकार कोर्स केवल डिग्री प्राप्त करने के साधन न रहकर योग्यता और कार्य-कौशल बढ़ाने का साधन हो जाता है।

जो लोग साथ-साथ नौकरी अथवा धन्धा करने पर मजबूर होते हैं, या जिन्हें किसी कारण से कोर्स बीच में छोड़ना पड़ जाता है, वे भी इन कोर्सों का यथासम्भव लाभ उठाते हैं।

यह तो अब स्पष्ट ही है कि भारत में आक्सब्रिज माडल असफल हो चुका है। नये माडल की तलाश में भी हमें अब दूर नहीं जाना है। १९६२ में, अमेरिका के लैंडेग्रांट कालिजों के माडल पर भारत में, पन्तनगर, उदयपुर, लुधियाना में कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये गये थे। उनमें अनुसन्धान और अध्यापन के अतिरिक्त विस्तार प्रचार की जिम्मेवारी भी शिक्षकों पर डाली गई थी। इसी कारण कृषि विश्वविद्यालय के स्नातकों ने गत २० वर्षों में वैज्ञानिक कृषि के विस्तार हेतु जो कार्य किया है वह अनुकरणीय है। उन्ही की प्रेरणा से भारत का साधारण कृषक अब आधुनिक कृषि युग में प्रवेश कर चुका है और भारत में हरित क्रान्ति का जो सत्रपात हुआ उसका श्रेय कृषि विश्वविद्यालयों को समुचित मात्रा में मिला ही चाहिए।

भारत के साधारण विश्वविद्यालयों में अभी विस्तार कार्य उपयोगिता को उचित

महत्व नहीं दिया जा रहा।

बरमिंघम के सम्मेलन में यह बात उभर कर आई कि विश्वविद्यालय का मुख्य कर्तव्य अपने इर्द-गिर्द रोशनी फैलाना है, अर्थात् अपने अनुसन्धान के परिणामों को जनसाधारण तक पहुंचाना विश्वविद्यालय का परम् कर्तव्य है वह इसे टाल नहीं सकता। विश्वविद्यालय का आधार एक तिपाये स्टूल पर समझिये जिसका एक पांव अनुसंधान का है, एक प्रशिक्षण का और एक विस्तार का।

इस प्रकार ही विश्वविद्यालय (जो समाज से अर्थ लाभ करते हैं) अपने अस्तित्व की भूमिका कर कृतकृत्य हो सकते हैं।

इसी भावना से प्रेरित होकर ही स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की गई थी। वह भारत की तत्कालीन शिक्षा प्रणाली से जो आक्सब्रिज माडल पर आधारित थी, असन्तुष्ट थे। वहीं चाहते थे कि हमारे युवक केवल क्लर्क अथवा राज्य प्रशासन के पुर्जे बनकर रह जायें। इसीलिए उन्होंने गुरुकुल द्वारा वैदिक शिक्षा प्रणाली को पुनर्जीवित करने का आन्दोलन चलाया। इस प्रणाली का परम् लक्ष्य विद्यार्थी की शारीरिक, मानसिक, अध्यात्मिक उन्नति के अतिरिक्त उसे अर्थकरी विद्या से लाभान्वित करना भी इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है। इसके उद्देश्य को लेकर गुरुकुल में कई प्रकार के धंधे सिखलाने का कार्यक्रम भी हाथ में लिया था और कालक्रम में आयुर्वेद और कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

शुरू-शुरू में गुरुकुल के संस्थापक और संचालक उच्च आदर्शों से प्रेरित थे। ६० वर्ष तक गुरुकुल ने दिग्गज महारथी पैदा किये, जिन्होंने देश-विदेश में खूब जल-चल मचाई। इतिहास के क्षेत्र में क्या, राजनीति के क्षेत्र में क्या, आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में क्या, पत्रकारिता के क्षेत्र में क्या, सर्वत्र खूब योगदान दिया। परन्तु जब गुरुकुल का संचालन स्वार्थी बौनों के हाथ में आया तो गुरुकुल का ह्रास अवश्यम्भावी था। जब बड़े छोटे मनुष्यों के हाथ में आ जाएं तो उपलब्धि का स्तर गिर ही जाता है।

जहां तक प्रणाली का सम्बन्ध है, कार्य विधि का संबंध है, लक्ष्य-बोध और पथ का सम्बन्ध है वैदिक पथ के अतिरिक्त अन्य कोई पथ है ही नहीं - लेकिन आवश्यकता है इस पथ को पहचानने और उस पर चलने वाले गुरुजन की - जो पुनः देश की बीमार शिक्षा संस्थाओं के पथ प्रदर्शक बन सकें, उन्हें पथ्य प्रदान कर सकें।

— 0 —

तेहरवाँ राष्ट्रमंडल विश्वविद्यालय सम्मेलन बरमिंघम - II

ले० माननीय बलभद्र कुमार हूजा,
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

१५ अगस्त को बरमिंघम विश्वविद्यालय के भव्य हाल में सर एलिक मैरिसन, अध्यक्ष, राष्ट्रमण्डल विश्वविद्यालय संगठन और सर पीटर स्काट, चांसलर, बरमिंघम विश्वविद्यालय के स्वागत भाषणों से कांग्रेस का शुभारम्भ हुआ। मुख्य अथिति थे- राष्ट्रमण्डल के जनरल सैक्रेटरी श्री दत्त रामफल। उन्होंने अपने भाषण में जनसाधारण की दरिद्रता और आवश्यकताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि जितना व्यय आज सामरिक अस्त्र-शास्त्रों के उत्पादन पर हो रहा है उसके अंश मात्र से ही विश्व के जनसाधारण की स्वास्थ्य, निवास, अज्ञान और अभाव की समस्याओ का निराकरण हो सकता। उन्होंने कहा कि इस वर्ष विश्व का फौजी व्यय ६.५० विलियन डालर है, अर्थात् प्रतिमिनट १.२ मिलियन डालर (बारह लाख डालर अथवा १२ करोड़ के रुपये के लगभग) इस प्रकार जो व्यय फौज पर आठ घंटे में होता है, विश्व भर से मलेरिया का आतंक समाप्त कर सकता है और लगभग २० करोड़ व्यक्तियों का जीवन स्तर ऊंचा कर सकता है। परन्तु ऐसा हो नहीं पा रहा।

उन्होंने कहा कि १९६६ में पृथिवी का पहला चित्र आकाश से खेंचा गया था। जब अन्तरिक्ष यात्री चांद पर पहुंचे तो उन्होंने पृथिवी को एक तारे की भांति उगता हुआ देखा। अब पृथिवी एक गाव के सदृश छोटी हो चुकी है। सभी मानव समुदाय को मिलजुल कर अपनी सांझी समस्याओं का निदान करना होगा।

उन्होंने ब्रांट रिर्पोट का उल्लेख करते हुए कहा कि गरीब देश अनिश्चितता और कानूनी तोड़-फोड़ के वातावरण में उन्नति नहीं कर पायेंगे। हम ऐसा वातावरण चाहते हैं जिसमें सभीं को बराबर न्याय मिले और राज्य व्यवस्था खुली और कानून पर आधारित हो। गुरुदेव टैगोर की विश्वविख्यात कविता का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा कि हम ऐसा संसार बनाना चाहते हैं जो तंग घरेलू दीवारों से टुकड़े-टुकड़े न हो चुका हो। जवाहर लाल नेहरू के मशहूर वाक्य को दोहराते हुए उन्होंने कहा कि सब से खतरनाक वह दीवार हैं जो मन में खड़ी हो जाती हैं, जो हमें गलत परम्पराओं को

भंग करने से रोकती हैं और नये विचारों को इस लिये ग्रहण नहीं करने देतीं क्योंकि वह अपरिचित से होते हैं।

विश्वविद्यालयों का यहां मुख्य कर्तव्य है कि वह समाज में बौद्धिक और नैतिक नीवें प्रतिष्ठित करें और सार्वभौम भविष्य के निर्माण के लिये प्रबुद्ध स्नातकों को तैयार करें।

यही बातें अपनी-अपनी तरह से भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा निरन्तर प्रशिक्षण और ग्राम सुधार की गोष्ठियों में भी उठाई गई। लेकिन विश्व के समृद्ध देशों के प्रबुद्ध शिक्षा शास्त्रियों की प्रतिक्रिया कुछ ऐसी लगी जैसे-शुतुरमुर्ग रेत में अपना सिर दबा देता है। इस आशा से कि रेत की आंधी ऊपर से टल जायेगी।

समृद्ध देशों की समस्या मुख्यतः बेकारी की है। टैक्नालोजी में जो असाधारण प्रगति हो रही है उससे पठित लोगों को कैसे निरन्तर अवगत कराया जाये ताकि वह उसका पूरा लाभ उठा सकें और आने वाले कल में उनकी कार्यक्षमता अप-टू-डेट रहे और वह अपने प्रतियोगियों से पिछड़ न जाये इससे वह चिन्तित हैं।

इसी समस्या को लेकर बर्मिंघम नगर के दूसरे विश्वविद्यालय ऐस्टन के चांसलर सर एड्रियन कैडबरी ने कांफ्रेंस के सन्मुख अपना उद्‌बोधन भाषण दिया। उन्होंने क्वैकर समुदाय का दृष्टान्त देते हुए कहा कि प्रतिष्ठित जनसमुदाय जिन लोगों का तिरस्कार करता है वही संसार में क्रान्ति लाते हैं। ऐसे ही लोग क्वैकर थे। वह श्रमिक वर्ग का सम्मान करते थे। आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति में विश्वास रखते थे। उन्हें ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं मिलता था। सो उन्होंने अपने स्कूल खोले और इस प्रकार सभी के लिये अध्ययन-अध्यापन के साधन प्रस्तुत किये। यही लोग देश में टैक्नोलोजिकल क्रान्ति के कर्णधार बने। उन्होंने कहा कि विश्वविद्यालय का कर्तव्य केवल मनुष्यों की संसारी योग्यता बढ़ाना ही नहीं होना चाहिए, किन्तु विश्वविद्यालय को ऐसे मनुष्य तैयार करने चाहिएं जो संसार को बदलने संवारने में पूरा सहयोग दें और संसार में होंसले और दृढ़ सकल्प से आचारण करें। इस हेतु समाज और विश्वविद्यालय में घनिष्ठ संबंध होना चाहिए। परस्पर मेल-जोल हो। विश्वविद्यालय इस प्रकार के मेल-जोल के मिलन स्थल बन सकते हैं। वहीं नये नये विचार पैदा हों जो मिट्टी की और मानसिक दीवारें तोड़ कर यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलें। आज विश्व तरह-तरह की जटिल समस्याओं से घिरा हुआ है। उनको सुलझाने की जिम्मेदारी से विश्वविद्यालय भाग नहीं सकते। विश्व की समस्याओं को सुलझाने के संदर्भ में ही विश्वविद्यालय का अस्तित्व सार्थक होगा।

इस कान्फ्रेंस में मुख्य विषय तो था-तकनीकी आविष्कार और विश्वविद्यालयों की भूमिका-इसी विषय को लेकर निम्न प्रकार पांच गोष्ठियों का निर्माण किया गया-

१- तकनीकी आविष्कार के सामाजिक परिणाम ।
२- सर्वांगीण ग्राम सुधार में विश्वविद्यालयों की भूमिका ।
३- विश्वविद्यालय और उद्योग का परस्पर सहयोग ।
४- तकनीकी ज्ञान का विकास और प्रसार ।
५- निरन्तर शिक्षा ।

मैंने दूसरे और ५वें विषयों की गोष्ठियों में भाग लिया ।

१९५२ में भारत में अमेरिका के सहयोग से सामुदायिक योजनाओं का आरम्भ हुआ था । उससे पहले गांधी जी ने आजादी के आन्दोलन के साथ-साथ सदा ही ग्राम सुधार पर जोर दिया था । गोसेवा, ग्रामोद्योग खादी, अस्पृश्यता निवारण उनके कार्य-क्रम के मुख्य अंग थे ।

पहले केवल स्वयं सेवकों द्वारा ही यह कार्य उठाये जाते थे । फिर भारत की प्रदेशिक सरकारों ने भी देहात सुधार के महकमे खोले । लेकिन अजादी के बाद जब सामुदायिक योजनायें आरम्भ हुई तो श्री एस क्डे के ओजस्वी नेतृत्व में सरकारी तन्त्र ने इस कार्य को जोर शोर से हाथ में लिया । विस्तार सेवाओं का सारे देश में जाल सा बिछ गया ।

इसके बाद १९५९ में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में राजस्थान के नागौर नगर में पंचायती राज का शुभारम्भ हुआ । जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के जिम्मे ग्राम सुधार खेती सुधार इत्यादि का सर्वागीण कार्य सौंपा गया । फिर भी तकनीकी प्रशिक्षकों की कमी रही । इस कारण कार्य प्रगतिशील नहीं पाया ।

१९६२ में जब कृषि विश्वविद्यालय स्थापित हुए तो यह कमी भी दूर हुई । इस के साथ ही देश की सरकारों ने भूमि सुधार के कार्यक्रम अपनाएं । जमींदारी और जागीरदारी प्रथाओं का उन्मूलन किया गया । किसानों की बेदखली समाप्त होकर उन्हें खातेदारी अधिकार प्राप्त हुए, जिससे उन्होंने अपनी-अपनी भूमि और खेतों में दत्तचित्त और निर्भय होकर दिलचस्पी लेनी शुरू की । फलस्वरूप देश में हरित क्रान्ति का उदय हुआ और जहां १९५० में अन्न की उपज ३.५ करोड़ टन थी अब १३.५ करोड़ टन का लक्ष्य पार हो चुका है । हां, बढ़ती आबादी के सन्दर्भ में गरीबी अभी बनी है । किन्तु

विज्ञान और पुरुषार्थ के सहयोग से कैसे उन्नति हो सकती है, यह सिद्ध हो चुका है। इस प्रकार सर्वांगीण उन्नति के कार्यक्रमों में बैंकों ने भी बड़ी बहम भूमिका निभाई है।

कांगड़ी ग्राम में बैंकों द्वारा कर्ज दिए गए, इसका मैंने गोष्ठी में जिक्र किया और कहा कि बहुत से कर्जदारों ने आधे से ज्यादा कर्ज चुका दिये हैं और कईयों की दैनिक आय ३०-४० रु० तक बढ़ चुकी है। इस ग्राम में अब दो गोबर गैस प्लांट भी लग चुके हैं। औन ग्रामवासियों की आंख में आशा और विश्वास की चमक नजर आती है।

मैंने डा० स्वामीनाथन की प्रेरणा से भारत सरकार के पर्यावरण मन्त्रालय द्वारा प्रचलित गंगा, हिमालय और पश्चिमी घाट योजनाओं का भी जिक्र किया और कहा कि गुरुकुल विश्वविद्यालय को ऋषिकेश से गढ़मुक्तेश्वर तक का तट अनुसन्धान और विस्तार कार्य हेतु प्रदान किया गया है। इसी प्रकार गंगा नदी पर स्थित सभी विश्व-विद्यालय इस कार्यक्रम को उठा रहे हैं और विश्वविद्यालय का सामाजिक सुधार में योगदान होना चाहिए या नहीं यह विवाद अब भारत में समाप्त हो चुका है।

एन०एस०एस० का जिक्र करते हुए मैंने कहा कि भारतीय विश्वविद्यालय सर्वांगीण मानव निर्माण को अपना लक्ष्य मान कर चलते हैं। वह हल और कुल्हाड़ी के पीछे खड़े मानव समझ कर कुल्हाड़ी का प्रयोग करें। विश्वविद्यालय का मुख्य कर्तव्य मानसिक जंजीरों को तोड़ना है तथा शिक्षकों और नेताओं का प्रशिक्षण है ताकि वे राष्ट्र के युवक समुदाय को सही नेतृत्व दे सकें।

विश्वविद्यालय सूर्य के समान हैं उन्हें अपने इर्द-गिर्द प्रकाश की किरणें वितरित करनी होंगी। अन्धकार को दूर करना होगा। गरीबी के विरुद्ध युद्ध में पूरा योगदान देना होगा।

इस गोष्ठी में मदुराई गांधी ग्राम रूरल इंस्टीट्यूट के कुलपति डा० आराम ने बड़ा रुचिकर और ज्ञानवर्धक पत्र पढ़ा। उन्होंने भारत में हो रहे कार्यक्रम पर विस्तार से प्रकाश डाला और बतलाया कि गांधी ग्राम के स्नातकों की आज देश की अर्थ व्यवस्था में खूब मांग है क्योंकि वह सही मनों में धरती के पुत्र हैं।

इसी प्रकार रांची के कुलपति श्री धान ने भी अपने विचार प्रकट किये और कहा कि पिछड़े वर्गों की समस्याओं से विश्वविद्यालय विमुख नहीं हो सकते।

— 0 —

सम्पादकीय वक्तव्य

इस विश्वविद्यालय को जो यश और गौरव प्राप्त हुआ है उसका प्रथम श्रेय इसके सर्वप्रथम कुलपति तथा वर्तमान विजिटर परमसम्माननीय पं० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार जिन्होंने इस राष्ट्रीय संस्था को विश्वविद्यालय के समान स्तर की राजकीय मान्यता दिलाई। तत्पश्चात् श्रेद्दय महेन्द्र प्रताप शास्त्री, आचार्य प्रियव्रत जी, स्व० रघुवीर सिंह शास्त्री, डा० सत्येकेतु विद्यालंकार ने इसके कुलपतियों का सुशोभित किया। उनके परिवार वर्तमान कुलपति श्रेद्दय बलभद्र कुमार जी हूजा ('अवकाश प्राप्त आई० ए० एस०) ने इसके कुलपति पद को सुशोभित श्रेद्दय हूजा जी जहां राजकीय सेवा में कुशल प्रशासक रह चुके हैं वहीं वह शिक्षा संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में भी अग्रणी हैं। उन्होंने कुछ दिन पूर्व राष्ट्रमण्डलीय देशों के कुलपतियों के सम्मेलन में भाग लेकर इस विश्वविद्यालय का नाम संसार के शिक्षाविश्मादों के समक्ष ऊंचा उठाने का प्रयास किया है। उनमें असाधारण प्रतिभा एवं विचार शक्ति है। इस विश्वविद्यालय का परम सौभाग्य है कि उसे ऐसा कुलपति प्राप्त हुआ है। यह पत्रिका उनका हार्दिक अभिनन्दन करती हूई उन्हें साधुवाद देती है। वे शुनायु हों।

इस संस्था के कुलाधिपति माननीय वीरेन्द्र जी देश की इनी गिनी विभूतियों में से हैं। उनकी कृपा एवं सौजण्य से ही यह विश्वविद्यालय निरन्तर प्रगति कर रहा है।

जिन महानुभावों ने इस पत्रिका के कार्य में सहयोग दिया है सभी धन्यवाद के पात्र हैं। तथा जिन्होंने सहयोग न देने के बाद अपनी शुभकामनाएं प्रदान की हैं वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। डा० जबरसिंह जी सेंगर कुलसचिव इस पत्रिका के व्यवस्थापक हैं तथा वित्त अधिकारी श्रेद्दय बृजमोहन थापर जी ने पत्रिका को अत्यन्त सहयोग प्रदान किया है। अतः उन्हें धन्यवाद देना भी परमावश्यक है।

पत्रिका का यह अंक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। यदि उन्हें इस पत्रिका से लेशमात्र भी सन्तोष प्राप्त हुआ तो मेरा श्रम सफल है।

मुद्रक : गोपाला प्रिंटर्ज़, ५५५, ३६-बी, चण्डीगढ़